आधुनिक

अन्तरराष्ट्रीय समस्यायें

(Modern International Affairs)

लेखक

जगत नारायण, एम० ए०

किताब महल, इलाहाबाद
२३५ हार्नब रोड, बम्बई
२८ फैज बाजार दिल्ली
१९५९

प्रथम संस्करण, १९५९

लेखक की रचनाएँ

१. भारत का नया संविधान

२. विश्व-इतिहास

३. Isms in Politics

४. योरप का संक्षिप्त इतिहास

५. आधुनिक राजनीतिक विचारधारायें

प्रकाशक :—
किताब महल, जीरो रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक :—श्री एन० जी० सहगल यू० पी० प्रिंटिंग प्रेस
२८ एडमॉन्स्टन रोड, इलाहाबाद।

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यों तो समस्याओं का कभी अन्त नहीं हुआ है, फिर भी जिस गति से राष्ट्रों में राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हो रहा है, न्याय और निष्पक्षता, शांति और सुरक्षा, स्वतन्त्रता और सहयोग की माँग हो रही है, उसे देखते हुए यह सहज में अनुमान लगाया जा सकता है कि निकट भविष्य में अधिकांश समस्यायें सुलझ जायँगी।

आशा है यह पुस्तक सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

बसंत पंचमी
दिनांक १२-२-५६

जगत नारायण

विषय-सूची

अध्याय १

निःशस्त्रीकरण

(Disarmament)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद से ही निःशस्त्रीकरण के बारे में किसी विशेष निश्चय पर पहुँचने की आवश्यकता समझी जाती रही है। पारमाणविक शस्त्रों के निर्माण के बाद तो शस्त्र-सज्जा की निरर्थकता और अधिक प्रत्यक्ष हुई। राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण-आयोग में पिछले ग्यारह वर्ष से निःशस्त्रीकरण के रूप और सीमा के सम्बन्ध में विचार विमर्श होता रहा है, लेकिन अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र के दो परस्पर विरोधी गुटों के देशों में एक दूसरे के प्रति अविश्वास के कारण अब तक कोई समझौता नहीं हो सका है। संघर्ष की स्थिति के बिना ही परमाणु अस्त्रों के परीक्षणों से मानव-जीवन के लिए जो खतरा उत्पन्न हो गया है, उन पर भी रोक लगाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जा सका है। राष्ट्रसंघ के निःशस्त्रीकरण-आयोग में सुरक्षा परिषद् के ग्यारह अन्य सदस्य और कनाडा हैं और पारमाणविक उपसमिति में अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रान्स और कनाडा हैं। शस्त्र-सज्जा द्वारा-अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में तनातनी का वातावरण पैदा करने वाले बड़े राष्ट्र के ही आयोग और समिति में होने के कारण ही किसी तरह का समझौता होने में कठिनाइयाँ आती रही हैं। "आश्चर्य की बात है कि प्रजातन्त्रवादी होने का दम भरने वालों ने और जिन्होंने बार-बार यह घोषित किया है कि वे किसी भी मूल्य पर प्रजातन्त्र की रक्षा करेंगे, न सिर्फ सैनिक

शासन का समर्थन किया है, वरन् युद्ध की तैयारियों के लिए शस्त्रास्त्र की भी सहायता की है।" (नेहरू)।

ग्यारह सूत्रीय पश्चिमी योजना

राष्ट्र संघीय निःशस्त्रीकरण उपसमिति की सबसे महत्त्वपूर्ण बैठक १८ मार्च सन् १९५७ को आरम्भ हुई और २१ सप्ताह तक चलकर ६ सितम्बर सन् १९५७ को समाप्त हुई।

इस बैठक में २९ अगस्त को पश्चिमी राष्ट्रों ने ११ सूत्रीय योजना प्रस्तुत की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) समझौते के कार्यान्वित होने के एक वर्ष के अन्दर ही अमेरिका और रूस में से प्रत्येक अपने सैनिकों की संख्या घटाकर २५ लाख तथा फ्रांस और ब्रिटेन घटाकर ७॥ लाख कर दें।

(२) समझौते के द्वितीय चरण में अमेरिकी और रूसी सैनिकों की संख्या २१ लाख तथा ब्रिटिश और फ्रान्सीसी सैनिकों की संख्या ७-७ लाख और तृतीय चरण में रूसी तथा अमेरिकी सैनिकों की संख्या १७-१७ लाख और ब्रिटिश तथा फ्रान्सीसी सैनिकों की संख्या ६॥-६॥ लाख तक सीमित कर देने की व्यवस्था रहेगी।

(३) प्रत्येक राष्ट्र अपने सैनिक-व्यय की सूचना अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण संघटन को देगा।

(४) एकाकी और सामूहिक आत्म-रक्षा की स्थिति को छोड़कर कोई भी राष्ट्र पारमाणविक अस्त्रों का प्रयोग नहीं करेगा।

(५) अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण की व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद कोई भी राष्ट्र पारमाणविक पदार्थों का प्रयोग सैनिक कार्यों के लिए नहीं करेगा।

(६) प्रत्येक राष्ट्र अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण के अन्तर्गत पारमाणविक अस्त्रों का परीक्षण २० मास तक स्थगित रखेगा।

(७) उपसमिति के पाँचों राष्ट्रों का विशेषज्ञ दल अति शीघ्र परीक्षणों के स्थान की जाँच करेगा और यदि जाँच सन्तोषजनक रही तो परमाणु-अस्त्रों का परीक्षण १२ मास और स्थगित करने का निश्चय किया जायगा।

(८) समझौता लागू होने के तीन मास के अन्दर रूस और अमेरिका इस बात की देख-रेख करें कि वाह्याकाश में केवल शांतिपूर्ण तथा वैज्ञानिक कार्यों के लिए ही चीजें प्रेषित की जायँ।

(९) अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण संघटन सुरक्षा-परिषद् के अन्तर्गत कार्य करेगा। उसे स्वीकृत शस्त्रास्त्रों के आयात-निर्यात के नियन्त्रण की व्यवस्था की देख-रेख का अधिकार होगा।

(१०) यदि कोई देश यह समझता है कि दूसरा देश निःशस्त्रीकरण समझौते का उल्लंघन कर रहा है तो वह समझौते के दायित्व से मुक्त होने को स्वतन्त्र रहेगा।

(११) योजना की सभी व्यवस्थाएँ अविभाज्य हैं।

रूसी आक्षेप

२९ अगस्त को पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा प्रेरित निःशस्त्रीकरण प्रस्ताव को रूस ने अस्वीकार कर दिया। रूसी प्रतिनिधि श्री वेलेरिन जोरिन ने रूसी मतभेद के मुख्य कारण बतलाये जो निम्नलिखित हैं :—

(१) पारमाणविक परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रश्न रूस-निःशस्त्रीकरण की अन्य बातों से सम्बन्ध नहीं करना चाहता।

(२) रूस चाहता है कि पारमाणविक अस्त्रों तथा अग्निवाणों के प्रयोग पर बिना शर्त रोक लगा दी जाय जब कि पश्चिमी राष्ट्र ऐसे अस्त्रों का प्रयोग निषिद्ध करने की स्पष्ट और बिना शर्त घोषणा करने के पक्ष में नहीं हैं।

(३) स्थलीय सेना में कटौती के सम्बन्ध में रूस चाहता है कि भारी कटौती हो जब कि पश्चिमी राष्ट्र ऐसी किसी कटौती के विरुद्ध है।

(४) सैनिक-व्यय का जहाँ तक सम्बन्ध है, रूस चाहता है कि इस व्यय में कम-से-कम १५ प्रतिशत तत्काल कमी कर दी जाय, किन्तु पश्चिमी राष्ट्र इतनी कटौती के लिए तैयार नहीं है।

(५) विदेशों में स्थित सैनिक अड्डों को रूस धीरे-धीरे बिलकुल समाप्त कर देने के पक्ष में है, किन्तु पश्चिमी राष्ट्र ऐसे किसी प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं है।

(६) रूस चाहता है कि पश्चिमी जर्मनी तथा नाटो (Nato) से पश्चिमी राष्ट्र अपनी सेना हटा ले अथवा कम कर दे और बदले में रूस पूर्वी योरप के देशों में ऐसा ही कार्य करे, किन्तु पश्चिमी राष्ट्र न पश्चिमी जर्मनी स्थित अपनी सेना कम करने के लिए तैयार है और न नाटो से ही सेना हटाने को।

(७) 'मुक्त गगन' योजना के सम्बन्ध में रूस चाहता है कि वैज्ञानिक-निरीक्षण की योजना मध्य योरप तथा पूर्वी एशिया में कार्यान्वित हो। किन्तु पश्चिमी राष्ट्र 'मुक्त आकाश' की ऐसी योजना प्रस्तुत करते हैं जिससे वास्तविक निःशस्त्रीकरण बेकार हो जाता है।

महामन्त्री को भारत का पत्रक

२६ सितम्बर को भारत की ओर से भारतीय प्रतिनिधि श्री आर्थर-लाल ने राष्ट्र संघ के महामन्त्री श्री हेमर शेल्ड को एक पत्रक दिया जिसमें निम्नलिखित माँग पेश की गयी थी :—

(१) निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघीय निःशस्त्रीकरण आयोग से शीघ्र रिपोर्ट देने के लिए कहा जाय ताकि राष्ट्रसंघ की महासमिति के अधिवेशन में विचार किया जा सके।

(२) राष्ट्रसंघ की राजनीतिक समिति की विषय सूची में निःशस्त्रीकरण प्रथम विषय हो।

(३) राष्ट्रसंघीय निःशस्त्रीकरण उपसमिति का विस्तार किया जाय।

भारत ने महामन्त्री के विचारार्थ अन्य भी कई प्रस्ताव भेजे जैसे—(१) पारमाणविक तथा सामूहिक विनाश के सभी अस्त्रों का परीक्षण बिलकुल बन्द किया जाय, (२) विस्फोटक पदार्थों पर प्रतिबन्ध लगे, (३) ऐसे अस्त्रों में काम आने वाले पदार्थों को शान्तिपूर्ण उपभोग के कार्यों में लगाया जाय, (४) सैनिक-बजट घटाया जाय, (५) बजट राष्ट्रसंघ में पेश हो, (६) पारमाणविक अस्त्रों का आदान-प्रदान न हो।

भारत का उपर्युक्त प्रस्ताव कितना उचित था इसका पता इसी बात से लगता है कि इसे व्यापक समर्थन मिला। सभी राष्ट्रों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसके पक्ष में अपने मत प्रकट किये।

पश्चिमी निरस्त्रीकरण प्रस्ताव पास

११ अक्टूबर सन् १९५७ को ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रान्स तथा कनाडा के साथ अन्य १७ राष्ट्रों ने संघीय राजनीतिक समिति में एक प्रस्ताव पेश कर संघ से अनुरोध किया कि वह लन्दन निरस्त्रीकरण प्रस्तावों की पुष्टि करे। २९ अगस्त को लन्दन में निरस्त्रीकरण उपसमिति की बैठक में पश्चिमी प्रस्ताव पेश हुआ था और रूस ने उसे अमान्य कर दिया था। इस बार भी जब राजनीतिक समिति की बैठक में पश्चिमी प्रस्ताव पेश हुआ तो रूसी परराष्ट्र मन्त्री ने, यह कह कर कि उक्त प्रस्तावों के आधार पर समझौता नहीं हो सकता, विरोध किया।

२१ राष्ट्रों ने पश्चिमी प्रस्ताव के केवल ६ मुख्य बातों पर ही प्राथमिकता देने के लिए माँग की। ये ६ बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) शीघ्र अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण बैठाकर पारमाणविक अस्त्रों का परीक्षण तत्काल स्थगित किया जाय।

(२) युद्धास्त्रों के कार्य को लिए विस्फोटक सामग्री का उत्पादन रोका जाय।

(३) पारमाणविक अस्त्रों के भंडार पारस्परिक आकार पर समान भाव में घटाये जायँ और अन्तरराष्ट्रीय देख-रेख में उक्त भंडार की विस्फोटक-सामग्री अयुद्धास्त्रीय रूप में परिवर्तित कर दी जाय।

(४) सशस्त्र सेना और शस्त्र-सज्जा में समुचित कमी की जाय।

(५) आकस्मिक आक्रमणों की सम्भावना मिटाने के लिए स्थलीय और आकाशीय पर्यवेक्षण की मुक्त व्यवस्था प्रगतिशील रूप में की जाय।

(६) ऐसी संयुक्त पर्यवेक्षण-व्यवस्था की जाय जिससे अन्तरिक्ष में छोड़े जाने वाले पदार्थ से केवल शांति उपयोगी और वैज्ञानिक कार्य होने का भरोसा हो सके।

उक्त प्रस्ताव का साथ ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस तथा कनाडा के अतिरिक्त अर्जेण्टाइना, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, कोलम्बिया, क्यूबा, डोमिनिकन गणतन्त्र, इक्वेडोर, होण्डुरास, इटली, लाओस, लाइबेरिया, नीदरलैण्ड, निकाराग्वा, पनामा, पेरू, परागुए, और ट्यूनीशिया ने भी दिया।

१४ नवम्बर को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासमिति ने इस आशय के प्रस्ताव की पुष्टि कर दी कि पारमाणविक परीक्षणों के स्थगन के साथ-साथ निरीक्षण, परिवेक्षण और विस्फोटक सामग्रियाँ घटाने, जैसे निरस्त्रीकरण की कार्रवाइयों के साथ ही जोड़ दिया जाय। पश्चिमी प्रस्ताव ६ के विरुद्ध' ५७ मतों से पास हो गया। १५ राष्ट्रों ने मतदान में भाग नहीं लिया। विरोध में मत देने वाले कम्युनिस्ट गुट के राष्ट्र थे जो चाहते थे कि पारमाणविक परीक्षणों के स्थगन का समझौता तुरन्त हो, अन्य प्रश्नों का निबटारा बाद में होता रहे।

निरस्त्रीकरण आयोग में वृद्धि

रूस ने पहले निरस्त्रीकरण-आयोग और उपसमिति को भंग कर राष्ट्रसंघ के कुल ८२ सदस्यों की नयी स्थायी संस्था बनाने का प्रस्ताव रखा था। रूस का सुझाव था कि इस नयी संस्था की बैठक खुली हो। इस प्रस्ताव को राजनीतिक समिति ने अस्वीकृत कर दिया। रूस ने इस पर उपसमिति का बहिष्कार करने की धमकी दी।

यह सोचकर कि आयोग का बहिष्कार करने का निश्चय कहीं रूस न कर ले, निरस्त्रीकरण आयोग में १४ और सदस्यों को रखने के लिए पश्चिमी राष्ट्र १८ नवम्बर को तैयार हो गये। इस वृद्धि से निरस्त्रीकरण-आयोग के सदस्यों की संख्या २६ हो गयी। नये १४ सदस्य भारत, बर्मा, मिश्र, ट्यूनीशिया, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, नार्वे, आस्ट्रेलिया, अर्जेण्टाइना, ब्राजील, इटली, बेलजियम और मेक्सिको हैं।

पं० नेहरू द्वारा रूस और अमेरिका से अपील

इसी समय भारत के प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने शस्त्रीकरण की होड़ तथा पारमाणविक अस्त्रों का परीक्षण बन्द करने के लिए रूस और अमेरिका से अपील की।

रूस और अमेरिका के उत्तर भी शीघ्र मिल गये। रूस के प्रधान मन्त्री श्री बुल्गानिन ने अपने उत्तर में लिखा कि रूस यह घोषणा करने को तैयार है कि जनवरी सन् १९५८ से वह किसी प्रकार पारमाणविक-अस्त्र का परीक्षण नहीं करेगा बशर्ते अमेरिका और ब्रिटेन भी इस बात के लिए राजी हो जायँ कि वे भी जनवरी सन् १९५८ से इस प्रकार का कोई परीक्षण नहीं करेंगे।

अमेरिका के राष्ट्रपति आइसनहावर ने अपने उत्तर में लिखा कि पारमाणविक अस्त्रों के परीक्षण बन्द करने के साथ ऐसे अस्त्रों के उत्पादन पर रोक लगाने का प्रश्न भी हल होना चाहिए।

रूस और नाटो (Nato) सम्मेलन

१० दिसम्बर सन् १९५७ को सोवियत रूस के प्रधान मन्त्री माशल बुल्गानिन ने राष्ट्रपति आइसनहावर तथा पश्चिमी जर्मनी के प्रधान डाक्टर कोनराड़ अडानावर के नाम पत्र भेजा और यह सुझाव रखा कि सोवियत यूनियन तथा पश्चिमी देशों के नेताओं का सम्मेलन हो। पत्र में नाटो की आलोचना की गयी थी और यह आरोप लगाया गया था कि नाटो युद्ध की ओर बढ़ रहा है।

पेरिस में चल रहे नाटो सम्मेलन का २० दिसम्बर सन् १९५७ अन्तिम दिन था। इस दिन नाटो राष्ट्रों ने यह निश्चय किया कि निरस्त्रीकरण सम्बन्धी पश्चिमी प्रस्तावों को कार्यान्वित कराने के उद्देश्य से नाटो के राष्ट्र रूस से वार्ता चलाने का प्रयत्न करेंगे। साथ ही साथ नाटो सम्मेलन में यह भी निश्चय हुआ कि (१) पारमाणविक युद्धास्त्र एकत्र किया जाय ताकि आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा के लिए नाटो राष्ट्रों को तत्काल प्राप्त हो सके, (२) मध्यम दूरी वाले अग्निवाणों को योरप में सर्वोच्च मित्र कमांडर के पास रखा जाय, और (३) पारमाणविक अस्त्रों एवं राकेटों का विकास तथा उनकी उपयोग-सम्बन्धी व्यवस्थाओं का निर्णय नाटो के राष्ट्रों की सहमति से किया जाय।

रूस का सप्तसूत्रीय सिद्धान्त

निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर वर्तमान तनातनी को दूर करने के लिए परराष्ट्र मन्त्रियों का सम्मेलन बुलाने के सम्बन्ध में नाटो राष्ट्रों ने जो सुझाव रखा था रूस ने उसे २१ दिसम्बर' ५७ को अस्वीकार कर दिया और उसके स्थान पर विश्व समस्याओं के हल के लिए पूर्व एवं पश्चिम के बीच शीर्षस्थ-सम्मेलन करने का आग्रह किया। उक्त सम्मेलन के लिए अपील करते हुए २१ दिसम्बर को रूसी कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रधान श्री निकिता क्रुश्चेव ने रूसी संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधि-

वेशन में कहा कि शीर्षस्थ-सम्मेलन के फलस्वरूप यदि दोनों देशों के हितों को धक्का लगे बिना अमेरिका और रूस के बीच समझौता हो जाय तो शांति की दृष्टि से बहुत बड़ा काम होगा।

२५ दिसम्बर '५७ को नव दिवस से पारमाणविक परीक्षणों पर रोक लगाने के सम्बन्ध में रूस ने अपनी सप्तसूत्रीय शान्ति-योजना मास्को स्थित विदेशी दूतावासों को दिया। ये सप्तसूत्रीय सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) रूस, अमेरिका तथा ब्रिटेन इस बात की प्रतिज्ञा करें कि वे उद्जन तथा परमाणु बमों का प्रयोग नहीं करेंगे।

(२) वे इस बात का निश्चय करते हैं कि ७ जनवरी सन् १९५८ से वे परीक्षण न करेंगे।

(३) वे इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी में वे ऐसे शस्त्रास्त्र न रखेंगे।

(४) तीनों पारमाणविक राष्ट्र अपनी सेना में कमी करेंगे।

(५) वारसा तथा नाटो देशों में अनाक्रमण समझौता होगा।

(६) पश्चिमी एशिया के स्वतन्त्र देशों के विरुद्ध कोई कार्रवाई न करेंगे और न शक्ति प्रयोग करेंगे।

(७) युद्ध प्रचार बन्द कर देंगे और अधिकाधिक व्यापार तथा सांस्कृतिक सम्पर्क के लिए प्रयत्न करेंगे।

अनाक्रमण सन्धि

रूस द्वारा रखे गये अनाक्रमण सन्धि के प्रस्ताव को ब्रिटेन ने कुछ शर्तों के साथ स्वागत किया। ४ जनवरी १९५८ को प्रधान मन्त्री श्री हेराल्ड मैकमिलन ने घोषित किया कि निरस्त्रीकरण तथा विश्व की तनातनी को कम करने के लिए ब्रिटेन समझौता करने का प्रयास करेगा और इसका श्रीगणेश अनाक्रमण समझौते से हो सकता है। श्री हेराल्ड

मैकमिलन ने एक शर्त भी रखी। उन्होंने कहा कि सभी सम्बन्धित देशों में जाँच और नियन्त्रण-व्यवस्था के उपरान्त समझौता होना चाहिए। ब्रिटेन अपने देश में निरीक्षक दल-द्वारा जाँच के लिए तभी तैयार हो सकता है जब ऐसी जाँच के लिए रूसी गुट के देश भी बिना रुकावट डाले तैयार होंगे। उन्होंने रूस पर यह आरोप लगाया कि उसने बाल्टिक राज्यों तथा पूर्वी योरप के देशों को अपने अधीन कर लिया है और उसी की नीति से अन्तरराष्ट्रीय तनातनी बढ़ी है। रूस केवल शांति की बात ही करता है, कुछ कार्य नहीं।

अमेरिका और फ्रान्स ने रूस के साथ अनाक्रमण सन्धि करने के सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री मैकमिलन के सुझाव पर अपना कोई निश्चित दृष्टिकोण व्यक्त नहीं किया। इन देशों ने यह निश्चय किया है कि इस सुझाव को नाटो देशों के समक्ष विचार विमर्श के लिए रखा जाय।

भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने विरोधी शक्ति गुटों के बीच अनाक्रमण सन्धि के प्रस्ताव का स्वागत किया और आशा व्यक्त की कि वह स्वीकृत होगा और कार्य में परिणत किया जायगा। विश्व पर युद्ध के महाविनाश की छाया को दूर करने का यही उचित मार्ग है।

रूस द्वारा विश्व-नेताओं के सम्मेलन का नया प्रस्ताव

१० जनवरी '५८ को रूस ने विश्व-नेताओं के सम्मेलन का एक नया प्रस्ताव रखा। मार्शल बुल्गानिन ने १९ देशों के कर्णधारों के नाम एक नया कदम उठाने की अपील की, जिससे वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय तनातनी तथा युद्ध की आशंका समाप्त और विश्व शांति की स्थापना सम्भव हो सके। रूस ने यह भी प्रस्ताव रखा कि योरप में पश्चिम तथा पूर्व के सैनिक अड्डों के बीच वायुयानों से फोटो लेने के लिए ५ सौ मील का क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाय। प्रस्ताव में रूस ने यह भी सुझाव दिया कि

रेलवे जंकशनों, बड़े बन्दरगाहों तथा प्रमुख सड़कों पर नियन्त्रण चौकियों की स्थापना हो।

सोवियत प्रधान मन्त्री ने परराष्ट्र-मन्त्रियों के सम्मेलन के लिए पश्चिमी देशों के प्रस्ताव को यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि उससे ठोस लाभ की आशा नहीं है।

राष्ट्रपति आइसनहावर का उत्तर

सोवियत रूस के प्रधान मन्त्री श्री बुल्गानिन के १० दिसम्बर '५७ के पत्र का राष्ट्रपति आइसनहावर द्वारा उत्तर १२ जनवरी सन् १९५८ को मास्को में दिया गया। राष्ट्रपति आइसनहावर ने अपने पत्र में लिखा कि वे रूसी नेताओं से मिलने के लिए तैयार हैं, लेकिन कुछ शर्तों के साथ। उनकी शर्तें निम्नलिखित थीं :—

(१) शीर्षस्थ वार्ता के पहले चर्चा किये जाने वाले प्रश्नों पर राजदूतों के माध्यम से तथा परराष्ट्र मन्त्रियों के स्तर पर पहले से विचार हो जाना चाहिए।

(२) संयुक्त राष्ट्रसंघ को सुदृढ़ करने का पुनः निश्चय किया जाय और यह आश्वासन दिया जाय कि विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से हल करने के प्रस्ताव जब सुरक्षा-परिषद् में पेश किये जायँ तो उनके विरुद्ध निषेधाधिकार का प्रयोग न किया जाय।

(३) सन् १९५५ के जेनेवा-सम्मेलन के निर्णय के अनुसार स्वतन्त्र चुनाव के आधार पर जर्मनी का एकीकरण हो।

(४) पूर्वी योरप की स्थिति पर विचार किया जाय।

(५) पारमाणविक अस्त्रों के अनियन्त्रित उत्पादन पर रोक लगायी जाय।

(६) पारमाणविक अस्त्रों का परीक्षण दो-तीन वर्षों के लिए ही नहीं, हमेशा के लिए बन्द किया जाय।

(७) सामान्य शस्त्रास्त्रों एवं सैनिकों की संख्या को नियन्त्रित ढंग से तथा उत्तरोत्तर अधिकाधिक मात्रा में घटाया जाय ।

(८) आकस्मिक आक्रमण की सम्भावना को रोकने के लिए हवाई जाँच की व्यवस्था की जाय तथा उत्तरोत्तर ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे अप्रत्याशित आक्रमण न होने का विश्वास हो जाय ।

(९) जाँच-सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघ के सुझाव को पहले कदम के रूप में अपना लिया जाय ।

(१०) पूर्व और पश्चिम के इस शीर्षस्थ-सम्मेलन में मेरे प्रस्तावों के साथ-साथ आपके पत्र में दिये गये प्रस्तावों पर भी आवश्यक तैयारी के पश्चात् विचार किया जाय ।

वैज्ञानिकों का संयुक्त राष्ट्रसंघ को पत्र

१३ जनवरी सन् १९५८ को ४४ देशों के ९००० से अधिक वैज्ञानिकों के हस्ताक्षर से संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक आवेदन पत्र दिया गया जिसमें यह माँग की गयी कि परमाणु बमों के परीक्षण पर रोक लगाने के सम्बन्ध में अब समझौता हो जाना चाहिए । वैज्ञानिकों ने अपने संयुक्त आवेदन-पत्र में कहा कि जब तक ये पारमाणविक शस्त्रास्त्र केवल तीन राष्ट्रों (अमेरिका, रूस और ब्रिटेन) के पास हे, तब तक उनके नियन्त्रण के प्रश्न पर समझौता नहीं हो सकता है। यदि परीक्षण चालू रहे तथा अन्य राष्ट्रों की सरकारों के पास भी पारमाणविक शस्त्रास्त्र हो गये तो सम्भव है संसार पारमाणविक युद्ध का शिकार हो जाय ।

श्री बुल्गानिन का श्री नेहरू को पत्र

जनवरी '५८ के द्वितीय सप्ताह में सोवियत रूस के प्रधान मन्त्री श्री बुल्गानिन ने भारत के प्रधान मन्त्री पं० नेहरू को सन्देश भेजकर आशा

व्यक्त की कि शिखर सम्मेलन करने के लिए आवश्यक वातावरण तैयार करने में यह अपने प्रभाव का उपयोग करेंगे। मार्शल बुल्गानिन ने अपने सन्देश में आगे कहा कि आतंक युद्ध की समाप्ति, शस्त्रीकरण की होड़ को बन्द करने तथा महायुद्ध के वातावरण को सुधारने के लिए राष्ट्रों के सामूहिक प्रयास को सफल बनाने में आप हमेशा की तरह यथा-सम्भव कुछ उठा नहीं रखेंगे।

इसी आशय के सन्देश श्री बुल्गानिन ने आइसलैण्ड के प्रधान मन्त्री, मिश्र के राष्ट्रपति और लक्समबर्ग सरकार के चेयरमैन को भी भेजा।

श्री हेराल्ड मैकमिलन का श्री बुल्गानिन को पत्र

१७ जनवरी सन् १६५८ को ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री हेराल्ड मैकमिलन ने सोवियत रूस के प्रधान मन्त्री श्री बुल्गानिन को एक पत्र लिखा और रूस को आश्वासन दिया कि ब्रिटिश सरकार रूस के विरुद्ध कभी न आक्रमण करेगी और न रूस पर हुए आक्रमण की उपेक्षा करेगी। पारमाणविक अस्त्र मुक्त क्षेत्र सम्बन्धी रूसी प्रस्ताव के उत्तर में कहा गया फिर उसमें कुछ कठिनाइयाँ हैं, फिर भी ब्रिटिश सरकार उस दृष्टि से उस पर अभी भी विचार करेगी। श्री मैकमिलन ने पत्र में आगे लिखा कि पूर्व तथा पश्चिम में समझौते के निमित्त वास्तविक प्रगति के लिए परराष्ट्र मन्त्रियों की बैठक आवश्यक है। पत्र में शीर्षस्थ वार्ता के सम्बन्ध में श्री बुल्गानिन द्वारा दिये गये सुझाव का कोई जिक्र न था। केवल कहा गया कि ऐसे सम्मेलन से विश्व बहुत आशा करेगा, किन्तु यदि वह विफल रहा तो उससे गहरी निराशा होगी।

शीर्षस्थ सम्मेलन (Summit Conference)

३ फरवरी १६५८ को रूस के प्रधान मन्त्री श्री बुल्गानिन ने राष्ट्र-पति आइसनहावर को एक पत्र लिख कर शीर्षस्थ सम्मेलन में भाग

लेने की इच्छा प्रकट की। सोवियत पत्र में निम्नलिखित ६ मुख्य शर्तों की चर्चा की :—

(१) पारमाणविक तथा उद्जन बमों का परीक्षण तत्काल बन्द किया जाय।

(२) अमेरिका, रूस एवं ब्रिटेन पारमाणविक एवं उद्जन अस्त्रों के प्रयोग से विमुख हों।

(३) मध्य योरप में ऐसा क्षेत्र रखा जाय जो परमाणविक एवं उद्जन अस्त्रों से मुक्त रहे।

(४) उत्तरी अतलांतक संघ तथा वारसा राष्ट्रों के बीच अनाक्रमण सन्धि हो।

(५) जर्मनी एवं अन्य योरपीय देशों में विदेशी सेनाएँ घटायी जायँ।

(६) अप्रत्याशित आक्रमण रोकने के लिए समुचित व्यवस्था की जाय।

(७) अन्तरराष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने वाली व्यवस्था को स्वीकार किया जाय।

(८) युद्ध-प्रचार बन्द किया जाय।

(९) पश्चिमी एशिया में वर्तमान तनातनी का अन्त किया जाय।

श्री बुल्गानिन ने इस बात पर भी जोर दिया कि शीर्षस्थ सम्मेलन में अन्य राष्ट्र भी रखे जायँ।

७ मार्च को श्री बुल्गानिन ने अमेरिका के नाम एक दूसरा पत्र भेजकर शीर्षस्थ सम्मेलन शीघ्र करने की माँग की।

१५ मार्च '५८ को रूस ने एक चतुःसूत्री शांति योजना प्रस्तुत की, जिसका मुख्य उद्देश्य शीर्षस्थ सम्मेलन को बल देना था। यह योजना इस प्रकार है—

(१) अन्तरिक्ष का उपयोग सैनिक कार्य के लिए न किया जाय।

(२) विदेशों में स्थित सैनिक अड्डे विघटित किये जायँ।

(३) संयुक्त-राष्ट्र संघ के अन्तर्गत ही ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे पहले एवं दूसरे सूत्र में कही गयी बातों का अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण किया जा सके।

(४) अन्तरिक्ष के अन्वेषण के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ की एक अन्तर-राष्ट्रीय संस्था स्थापित की जाय।

३१ मार्च को रूस ने एकतरफा पारमाणविक परीक्षण बन्द करने की घोषणा की, जिसका अन्य राष्ट्रों ने स्वागत किया।

रूस द्वारा परीक्षण स्थगित करने की घोषणा का भारत में विशेष स्वागत किया गया। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जी ने कहा—"मेरा मन होता है कि आज महात्मा गांधी सोवियत संघ की सरकार की प्रशंसा करने, अपनी सम्मति प्रकट करने तथा परामर्श देने के लिए जीवित होते! एक पक्षीय कारवाई की कला को तथा आज की दुनिया और उसके भौतिकवादी जलवायु के सन्दर्भ में उसके मूल्य तथा महत्त्व को सिर्फ वे ही समझते थे। आज यदि वे जीवित होते तो सबसे अधिक प्रसन्न होते। वह दोनों पक्षों को सबसे ज्यादा आश्वस्तकारी परामर्श देते।" सन्त विनोबा जी ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा—"यदि रूस वालों ने सदा के लिए उक्त परीक्षण बन्द कर दिये तो यह बहुत सुन्दर प्रारम्भ है।.........यदि यह एकांगी कार्य इसके बावजूद हो कि अन्य राष्ट्र इस कार्य का अनुगमन करते हैं या नहीं और प्रेम में विश्वास रखते हैं या नहीं, तो इससे सन्देह और भ्रम का निवारण होगा।.........मैं आशा करता हूँ, कि सोवियत रूस ने सच्चाई से घोषणा की है। वह पुराने महात्माओं और नबियों की शिक्षाओं का पालन करे, भले ही उसने इसके पूर्व महायुद्ध किये हों। मुझे आशा है कि रूस वाले इन सारी युद्ध संबंधी वार्ता से ऊब गये हैं।"

१ अप्रैल '५८ को अमेरिका के परीक्षण न बन्द करने की घोषणा की और यह कहा गया कि परमाणु परीक्षण स्थगित करने की रूसी घोषणा के कारण अमेरिका अपनी सुरक्षा व्यवस्था में कमी नहीं कर सकता।

११ अप्रैल को रूस ने राजदूत स्तर पर वार्ता का पश्चिमी देशों के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और राजनीतिक वार्ता प्रारम्भ करने के लिए १७ अप्रैल निश्चित किया। रूस ने साथ ही यह भी सुझाव दिया कि राजदूत वार्ता के दो-तीन सप्ताह के भीतर ही परराष्ट्र सम्मेलन किया जाय। अमेरिका, फ्रान्स और इंग्लैण्ड ने इसे स्वीकार कर लिया लेकिन यह कहा गया कि जिन विषयों पर रूस से मतभेद है, सर्वप्रथम उसी पर तीनों पश्चिमी राजदूतों तथा एक रूसी प्रतिनिधि की संयुक्त राजनीतिक वार्ता होनी चाहिए। रूस तीनों राजदूतों से पृथक-पृथक वार्ता करना चाहता था।

२६ अप्रैल को सोवियत रूस ने एक नया प्रस्ताव रखा जिसमें कहा गया कि शिखर सम्मेलन की तैयारी की वार्ता का क्षेत्र विस्तृत किया जाय और तैयारी वार्ता में चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के राजदूतों को भी सम्मिलित किया जाय जिससे रूस के भी अपने समर्थक वर्तमान रहें और पूर्व-पश्चिम के बीच की इस वार्ता में रूस को 'समानता' प्राप्त रहे।

आइक का जेनेवा सम्मेलन संबंधी प्रस्ताव

अमेरिका के राष्ट्रपति आइसनहावर ने निरस्त्रीकरण के विशेषज्ञों का जेनेवा में सम्मेलन करने का एक प्रस्ताव रखा, जिसे रूस ने ११ जून सन् १९५८ को स्वीकार कर लिया। रूस यह चाहता था कि भारत भी आरम्भ से जेनेवा सम्मेलन में भाग ले। पश्चिमी राष्ट्रों ने भारत के सम्मिलित होने की रूसी प्रस्ताव पर कोई निश्चित निर्णय न दिया लेकिन चेक और पोलिश वैज्ञानिकों के भाग लेने पर कोई आपत्ति भी न की।

शीर्षस्थ सम्मेलन

२३ जुलाई '५८ को रूस ने इस बात की घोषणा की कि वह शिखर-सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार है बशर्तें भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू और अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया जाना स्वीकार किया जाय।

२५ जुलाई को अमेरिका के राष्ट्रपति आइसनहावर ने शिखर-सम्मेलन संबंधी रूसी प्रस्ताव का उत्तर रूस के नाम प्रेषित किया। पत्रक में कहा गया कि पश्चिमी एशिया के बारे में शीर्षस्थ सम्मेलन की शर्तें और तिथि निश्चित करने के लिए सुरक्षा परिषद् स्थित प्रतिनिधियों की बैठक होनी चाहिए। पत्रक में यह भी कहा गया कि प्रस्तावित शीर्षस्थ-वार्ता केवल जार्डन और लेबनान की समस्याओं तक ही सीमित न रखी जानी चाहिए, बल्कि उसमें पश्चिमी एशिया से संबंधित और प्रश्नों पर भी विचार होना चाहिए। भारत तथा अन्य अरब राज्यों के सम्मिलित होने के सुझाव पर केवल यह कहा गया कि अमेरिका राष्ट्रसंघीय अधिकार पत्र में की गयी व्यवस्था का पालन करेगा।

२२ अगस्त' ५८ को राष्ट्रपति आइसनहावर ने यह घोषणा की कि अमेरिका दो शर्तों के साथ एक वर्ष के लिए पारमाणविक अस्त्रों का परीक्षण स्थगित करने के लिए तैयार है। एक शर्त यह था कि रूस पारमाणविक अस्त्रों का परीक्षण बन्द करने के लिए किसी अन्तरराष्ट्रीय समझौते पर वार्ता करने को तैयार हो। दूसरा शर्त था कि रूस अपने उस अकेले के निश्चय पर कायम रहेगा जो उसने गत मार्च में किया था कि रूस पारमाणविक अस्त्रों का परीक्षण नहीं करेगा।

पारमाणविक परीक्षणों की रोक के बारे में पश्चिमी राष्ट्रों के प्रस्ताव का रूसी उत्तर ३० अगस्त को ब्रिटेन और अमेरिका को मिल गया। रूसी उत्तर की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) सम्मेलन के लिए ३१ अक्टूबर की तिथि रूस को स्वीकार है।

(२) वार्तास्थल जेनेवा हो।

(३) वार्ता का विषय पारमाणविक अस्त्रों का स्थायी स्थगन हो।

(४) वार्ता की अवधि दो अथवा तीन सप्ताह से अधिक न हो।

पारमाणविक वैज्ञानिकों का जेनेवा सम्मेलन

पारमाणविक अस्त्रों के विस्फोटों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए पारमाणविक वैज्ञानिकों का जेनेवा में एक सम्मेलन हुआ जो ७ जुलाई-'५८ को प्रारम्भ होकर २० अगस्त '५८ को समाप्त हो गया। इस सम्मेलन में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, कनाडा, सोवियत संघ, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया तथा रूमानिया के प्रमुख वैज्ञानिकों ने भाग लिया। जेनेवा वार्ता में पश्चिमी प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व अमेरिका के डाक्टर जेम्स बी० फिस्क और ब्रिटिश पारमाणविक अस्त्रों के जन्मदाता सर विलियम फेनी ने किया। कम्यूनिस्ट पक्ष का नेतृत्व रूसी प्रविधिज्ञ ह० योडोरोव ने किया। यह रूसी भू-उपग्रह को कक्षा में पहुँचाने में सफल हुए हैं। जिन विषयों पर वैज्ञानिकों में सहमति रही, वे निम्नलिखित हैं :—

(१) सम्मेलन में यह निर्णय किया गया कि जमीन पर १६० से १७० और जहाजों पर १० नियन्त्रण केन्द्र स्थापित किये जायँ। वैज्ञानिकों ने यह निर्णय नहीं किया कि अमेरिका और रूस में कितने नियन्त्रण केन्द्र होगें।

(२) प्रत्येक नियन्त्रण केन्द्र पर ३० विशेषज्ञों तथा इनके सहायक स्टॉफ की आवश्यकता होगी।

(३) नियन्त्रण व्यवस्था के अन्तर्गत नियमित रूप से विमान उड़ा करेगें!

(४) पारमाणविक विस्फोट का सन्देह होने पर रेडियो किरण सक्रिय बादलों की खोज के लिए विमानों की विशेष उड़ाने भी होंगी।

(५) विस्फोट का पता न लगने पर भी यदि सन्देह बना रहा तो अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण संस्था उस स्थान पर विशेष निरीक्षक दल भेजेगी।

विस्फोटों के परीक्षणों की टोह के लिए वैज्ञानिकों ने ४ मौलिक विधियाँ स्वीकृत कीं—

(१) किरण सक्रिय पदार्थों का संग्रह।

(२) विद्युत-चुम्बकीय तरंग

(३) ध्वनि ग्रहण और

(४) कंपन तरंग

इसके अतिरिक्त ध्वनि और भूकम्प की लहरों, रेडियो संकेतों तथा रेडियो सक्रिय धूल से भी पारमाणविक विस्फोटों का पता लग सकता है।

आकाश में ३० से ५० किलोमीटर से अधिक ऊँचाई पर होने वाले पारमाणविक विस्फोटों का पता लगाने की कोई व्यवस्था योजना में शामिल नहीं की गयी। वैज्ञानिकों ने यह भी मत प्रकट की कि कुछ स्थितियों में जैसे समुद्री क्षेत्रों—जहाँ नियन्त्रण केन्द्र नहीं है, जमीन के नीचे और भूकम्पवाले द्वीपों में पारमाणविक विस्फोटों का पता लगाना कठिन है।

जेनेवा सम्मेलन के उक्त निर्णय के पश्चात् ही ब्रिटेन और अमेरिका ने एक वर्ष तक पारमाणविक परीक्षण स्थगित करने की घोषणा की।

अन्तरराष्ट्रीय पारमाणविक सम्मेलन

संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वाधान में १ सितम्बर सन् १९५८ से जेनेवा में अन्तरराष्ट्रीय पारमाणविक सम्मेलन आरम्भ हुआ जो १३ सितम्बर '५८ तक चलता रहा। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य परमाणु शक्ति के अनिर्णित रहस्यों को प्रकट करना था। इसमें ६९ राष्ट्रों के लगभग

५ हजार वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इस सम्मेलन के अध्यक्ष फ्रान्स के श्री फ्रांसिस पेरिन थे। भारत की ओर से जो वैज्ञानिक प्रतिनिधि-मंडल भेजा गया था, उसके नेता डाक्टर एच० जे० भाभा थे।

यह पारमाणविक सम्मेलन अपने ढंग का दूसरा था। इस प्रकार का सम्मेलन सन् १६५५ में चुका है। इस सम्मेलन की ७७ बैठकें हुईं जिसमें लगभग २२ सौ वैज्ञानिक लेख पढ़े गये।

वैज्ञानिकों की मुख्यतः दिलचस्पी परमाणु या उद्जन विस्फोट से उत्पन्न शक्ति के नियन्त्रण की शोध पर केन्द्रित रही। पढ़े गये लेखों से परमाणु विस्फोट और परमाणु शक्ति की भट्ठी के परिरूपन और निर्माण के अनुसन्धान कार्यों में ठोस प्रगति का संकेत मिला। परमाणु और उद्जन क्षेत्र में अमेरिका, ब्रिटेन और रूस इन तीनों ही बड़े राष्ट्रों ने घोषणा की कि हम लोग कोई बात गोप्य न रखेगें।

पारमाणविक परीक्षण-स्थगन सम्मेलन

३१ अक्टूबर सन् १६५८ से पूर्व-पश्चिम पारमाणविक स्थगन सम्मेलन जेनेवा में आरम्भ हुआ। इसमें तीन राष्ट्रों—अमेरिका, रूस और फ्रान्स ने भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य पारमाणविक परीक्षण को सदैव के लिए बन्द करना था।

सम्मेलन में ब्रिटेन और अमेरिका ने १ वर्ष के लिए परीक्षण-स्थगन का एक प्रस्ताव रखा जिसे रूस ने बिलकुल अमान्य घोषित कर दिया। रूस का कहना था कि जब तक अमेरिका और ब्रिटेन की सरकारें समझौता भंग करती रहेंगी, समझौते के मार्ग में नयी-नयी बाधायें खड़ी करती रहेंगी और परमाणु और उद्जद अस्त्रों के परीक्षण को हमेशा के लिए नहीं बन्द कर देंगी तब तक रूस भी परीक्षण जारी रखेगा।

४ नवम्बर '५८ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने एक प्रस्ताव पास कर ब्रिटेन, रूस और अमेरिका से एक अपील की कि जब तक जेनेवा

वार्ता चल रही है, पारमाणविक परीक्षण बन्द रखा जाय। इसी साधारण सभा में भारत तथा यूगोस्लाविया का वह प्रस्ताव भी निर्विरोध स्वीकृत हो गया; जिसमें कहा गया था कि संयुक्त-राष्ट्र संघ के सभी ८१ सदस्य निरस्त्रीकरण आयोग का रूप ग्रहण करें।

परीक्षण—स्थगन के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विश्व विख्यात पुरुषों ने भी परीक्षण स्थगन के लिए एक संयुक्त अपील पर हस्ताक्षर करके पारमाणविक शक्तियों की जेनेवा बैठक में भेजा था। इस अपील पर श्री सी० राजगोपालाचारी, श्रीमती रूजवेल्ट, डाक्टर अलबर्ट स्वेटजर, श्री ट्रिग्वी ली, लार्ड बरट्रण्ड रसेल, और डाक्टर मार्टीन नीमोलर आदि विश्व-विख्यात पुरुषों के हस्ताक्षर थे।

बाह्य अन्तरिक्ष अनुसन्धान समिति

२१ नवम्बर '५८ को पश्चिमी राष्ट्र इस बात पर एक मत हो गये कि बाह्य अन्तरिक्ष अनुसन्धान पर अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने के निमित्त १८ देशों की एक समिति बनायी जाय। अट्ठारह देशों में ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रान्स, रूस, जापान, भारत, संयुक्त अरब गणतन्त्र, बेल्जियम, स्वीडेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा, अर्जेण्टाइना, ब्राजील, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, ईरान, मेक्सिको तथा इटली होंगे। रूस ने बाह्यअन्तरिक्ष अनुसन्धान समिति संबंधी जो प्रस्ताव रखा उसमें केवल ११ राष्ट्रों का ही उल्लेख था। ये ११ राष्ट्र इस प्रकार थे—ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका, रूस, भारत, स्वीडेन, संयुक्त अरब गणतन्त्र, पोलैण्ड, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया तथा अर्जेण्टाइना। १८ सदस्यीय प्राविधिक समिति बनाने का पश्चिमी राष्ट्रों का प्रस्ताव २४ नवम्बर '५८ को संयुक्त राष्ट्र-संघ महासमिति की राजनीतिक समिति में पास हो गया। रूसी प्रस्ताव पर कोई मतदान नहीं हुआ। पश्चिमी राष्ट्रों के प्रस्ताव का महासमिति में पास हो होना अभी शेष है। महासमिति के इस अधिवेशन में भारत, बर्मा तथा संयुक्त अरब गणतन्त्र ने एक प्रस्ताव रखा कि बाह्य अन्तरिक्ष-

संबंधी समस्या के विविध पहलुओं का अध्ययन करने के लिए केवल अमेरिकी तथा रूसी प्रतिनिधियों की ही एक समिति बनायी जाय जो महासमिति को अपनी रिपोर्ट पेश करे।

अमेरिका के प्रति रूसी भ्रान्ति के कारण

१४ जनवरी सन् १९५९ को अपने अमेरिकी दौरान में रूस के उप-प्रधान मन्त्री श्री मिकोयान ने अमेरिका के प्रति रूसी भ्रान्ति के चार मुख्य कारण बताये। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा—"अमेरिका के शांतिपूर्ण उद्देश्यों के बारे में रूस में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियों का कारण है कि—(१) रूस की सीमाओं के इर्द-गिर्द अमेरिकी सैनिक अड्डों की कड़ी फैली है। (२) अमेरिका निरस्त्रीकरण का रूसी प्रस्ताव अमान्य कर बैठा है, (३) अमेरिकी सैनिक व्यय बढ़ता ही जाता है और (४) जर्मन शान्ति सन्धि का रूसी प्रस्ताव भी मान्य नहीं किया जा रहा है।" अतः श्री मिकोयान ने 'शीर्ष सम्मेलन' आयोजित करने पर पुनः ज़ोर दिया। शीर्ष सम्मेलन को उन्होंने अवश्यम्भावी बतलाया। आपने २२ जनवरी को डेनमार्क में यह भी प्रस्ताव रखा कि विश्व में शांति बनाये रखने के लिए पूर्व और पश्चिम में अनाक्रमण समझौता होना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बड़े राष्ट्र एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप करने में लगे हुए हैं, अभी तक शांति स्थापित के निमित्त कोई ठोस कदम उठाया नहीं गया है। आशा है जेनेवा में चल रहे १२ राष्ट्रों का सम्मेलन कोई निर्णय पर पहुँचने में सफल होगा और शांति के लिए कोई मार्ग प्रशस्त करेगा।

अध्याय २

अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन

(Afro-Asian Conference)

अप्रैल १९५५ का अफ्रीकी-एशियाई-सम्मेलन अफ्रीका तथा एशिया के देशों की एकता व नव जागरण का प्रतीक है।

"शताब्दियों तक एशिया और अफ्रीका के देश अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से नगण्य थे। उनकी भावों का विधान, उनके भविष्य के सम्बन्ध में निर्णय दूसरे लोग किया करते थे। एशिया योरप का बहिरांचल था, अफ्रीका को भी वे योरप का बाहरी भाग समझते थे। एशिया और अफ्रीका के सम्बन्ध में निश्चय, दूसरे देशों में रहने वाले दूसरे लोग किया करते थे।"

"अब स्थिति बदल गयी है। एशिया के अधिकांश देश आज स्वतन्त्र हैं। यह स्थिति राजनीतिक परिवर्तन से कहीं अधिक गहरी और महत्त्वपूर्ण है। अब एशियाई देशों में ऐसी जागृति हो गयी है कि वे आत्मविश्वासपूर्वक एक दूसरे से सहयोग करते हुए आगे बढ़ चलने को उद्यत और कृत संकल्प हैं। एशिया के देश किसी प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप और दबाव को अब बरदाश्त नहीं कर सकते। जो देश उनके स्वभाग्य-निर्णय में बाधक दिखाई पड़ते हैं उनसे वे घृणा करते हैं।" (पं० नेहरू)

कोलम्बो शक्तियों का सम्मेलन

अफ्रीकी-एशियाई-सम्मेलन की आवश्यकता बहुत दिनों से प्रतीत होने लगी थी लेकिन परिस्थिति अनुकूल न होने के कारण ऐसा कोई

सम्मेलन होना सम्भव न था। अफ्रीकी और एशियाई देशों के बीच का पारस्परिक मनमुटाव, विषमता एवं मतभेद इस सम्मेलन के होने में बाधा पहुँचा रहा था।

अफ्रीकी-एशियाई-सम्मेलन की रूपरेखा तैयार करने के निमित्त पाँच कोलम्बो शक्तियों की बैठक २८ दिसम्बर सन् १६५४ को इन्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता में हुई। इसमें भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू, बर्मा के प्रधान मन्त्री श्री थू नू, इन्डोनेशिया के प्रधान-मन्त्री श्री अली सस्त्रोमिजोजो, पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री श्री मुहम्मद अली तथा लंका के प्रधान मन्त्री श्री जान कोटेवाला ने भाग लिया। पाँचों प्रधान मन्त्रियों ने अपनी गुप्त बैठक में निश्चय किया कि अफ्रीकी-एशियाई देशों का सम्मेलन अप्रैल सन् १६५५ के अन्तिम सप्ताह में की जाय और इस सम्मेलन में अफ्रीका तथा एशिया के देशों का अधिकाधिक प्रतिनिधित्व हो।

बांदुङ्ग सम्मेलन

बांदुङ्ग सम्मेलन अफ्रीकी-एशियाई-सम्मेलन का दूसरा नाम है। प्रथम अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन पश्चिमी जावा द्वीप में स्थित बांदुङ्ग नामक स्थान पर १८ अप्रैल सन् १६५५ से आरम्भ हुआ था, अतः प्रथम अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन को बांदुङ्ग सम्मेलन के नाम से ही पुकारा जाता है। तत्पश्चात् जितने अफ्रीका तथा एशिया के देशों का सम्मेलन हुए, वे सब अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन के नाम से प्रसिद्ध हैं।

बांदुङ्ग नगर में इन्डोनेशिया के राष्ट्रीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय छिपा हुआ है। बांदुङ्ग नगर प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार का केन्द्र रहा है। यहीं पर सर्वप्रथम तरुण सुकर्ण ने, कालेज छोड़ने के पश्चात्, डचों के विरुद्ध संघर्ष का बीजारोपण किया था। यहीं पर अट्ठारह वर्ष पूर्व बंगकर्ण ने कुछ राष्ट्रवादियों को एकत्र कर इन्डो-

नेशियन नेशनलिस्ट पार्टी की नींव डाली थी। एक राष्ट्र, एक राष्ट्रीय झंडा, तथा एक राष्ट्रीय भाषा की माँग यहीं से बुलन्द हुई थी। २६ दिसम्बर सन् १६२६ को श्री सुकर्ण यहीं पर सर्वप्रथम अपने पाँच साथियों के साथ गिरफ्तार हुए थे। कौन जानता था कि यह राष्ट्र प्रेमी-नवयुवक श्री सुकर्ण पच्चीस वर्ष बाद स्वतन्त्र इन्डोनेशिया का राष्ट्रपति होगा।

राजनीतिक महत्त्व के साथ ही बांदुङ्ग अपने प्राकृतिक देन के लिए भी प्रसिद्ध है। पहाड़ी घाटियाँ, प्राकृतिक जंगल, सुन्दर दृश्य, तथा शीत-जलवायु आदि का आनन्द उठाने प्रत्येक वर्ष अनेक देशों से लोग आते हैं। रंग-बिरंगे फूलों के कारण बांदुङ्ग 'जावा का उद्यान' भी कहा जाता है।

सम्मेलन का उद्देश्य

बांदुङ्ग सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य वर्ग-संघर्ष को शांतिपूर्ण ढंग से समाप्त कर, विश्व-मैत्री की स्थापना करना था। आज की दुनिया में कोई भी देश अथवा महाद्वीप अपने को पृथक नहीं रख सकता। अतः उस देश या महाद्वीप के लिए पृथक की नीति पर विचार करना एक भारी भूल होगी। यह सोचना भी कि एशिया अथवा अफ्रीका अकेले ही प्रगति कर सकता है, गलत है। राष्ट्रों की प्रगति के लिए आवश्यक है कि विश्व-शांति की स्थापना हो। यह तभी संभव है जब राष्ट्रों में एकता हो, मैत्री हो, शांति हो तथा एक लक्ष्य तक पहुँचने के विचारों तथा भावनाओं में समान्यता हो। अफ्रीकी-एशियाई देशों पर इन बातों की अमिट छाप देने के लिए यह सम्मेलन बुलायी गयी थी। एशिया तथा अफ्रीका के देशों को संयुक्त रूप से यह घोषित करने के लिए कि वे अब पृथक की नीति पर विचार नहीं करते, वरन् वे आत्म-सम्मान, स्वभाग्य निर्णय, आत्म-निर्भरता तथा आत्म-प्रगति में विश्वास रखते हैं; यह सम्मेलन

बुलाया गया था। यह सम्मेलन अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतया सफल रहा। अफ्रीकी-एशियाई देश, जो अब तक छिटपुट थे, एक सूत्र में बँध गये हैं और बँधते जा रहे हैं।

सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्र

बांदुङ्ग सम्मेलन १८ अप्रैल सन् १९५५ को आरम्भ हुआ और सात दिन चलकर २४ अप्रैल सन् १९५५ को समाप्त हुआ। इसमें अफ्रीका तथा एशिया के कुल २९ देशों ने भाग लिया। ये देश निम्नलिखित हैं :—

बर्मा, लंका, भारत, इन्डोनेशिया, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, कम्बोडिया, लालचीन, मिश्र, इथियोपिया, गोल्ड कोस्ट, ईरान, इराक, जापान, जार्डन, लाओस, लेबनान, लाइबेरिया, लिब्रिया, नेपाल, फिलिपाइन्स, सऊदी अरब, सूदान, शाम, श्याम, तुर्की, उत्तरी वितनाम का प्रजातन्त्र, वितनाम और यमन।

बांदुङ्ग सम्मेलन में भाग लेने के लिए जो भारतीय प्रतिनिधि मण्डल गया था उसके नेता प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू थे। श्री वी० के० कृष्ण मेनन भी इस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य थे।

इस सम्मेलन में भाग लेने वाले अन्य प्रमुख व्यक्तियों में मिश्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर और लालचीन के प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई थे।

बांदुङ्ग सम्मेलन का अधिवेशन

हिन्देशिया के राष्ट्रपति श्री सुकर्ण ने १८ अप्रैल सन् १९५५ को बांदुङ्ग-सम्मेलन का शुभारम्भ किया। उन्होंने सम्मेलन को दो मन्त्र दिया—पहला—जीवित रहो और दूसरों को जीवित रहने दो और दूसरा—असमानता में एकता। साम्राज्यवाद की कटु आलोचना करते हुए श्री सुकर्ण ने बतलाया कि एक समय था जब जिब्राल्टर, स्वेज से लेकर चीन सागर और जापान

सागर तक साम्राज्यवाद का बोलबाला था। यद्यपि इस भाग के देश अब साम्राज्यवाद के शिकार न रहे, फिर भी साम्राज्यवाद का पूर्ण विनाश नहीं हो पाया है। एशिया और अफ्रीका के निवासियों को अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के लिए संघटित होना चाहिए। श्री सुकर्ण ने उपनिवेशवाद की भी आलोचना की। उन्होने कहा कि उपनिवेशवाद अभी मरा नहीं है बल्कि जीवित है। अब भी एशिया और अफ्रीका का एक बड़ा भाग स्वतन्त्र नहीं है। उपनिवेशवाद स्वतन्त्रता का एक बहुत बड़ा शत्रु है। इसका पूर्ण रूप से नष्ट होना आवश्यक है।

१६ अप्रैल को लालचीन के प्रधान मन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई ने भाषण दिया। विभिन्न राजनीतिक प्रणाली अपनाने के बावजूद भी एशिया तथा अफ्रीका के देशों में एकता और मैत्री स्थापित करने के लिए उन्होंने आवाहन किया। श्री चाऊ-एन-लाई ने कहा कि हम लोगों को एक सामान्य आधार बनाना चाहिए। सामान्य आधार बनने में विभिन्न देशों की राजनीतिक विचारधाराओं के कारण रुकावट नहीं पड़नी चाहिए।

सम्मेलन के अन्तिम दिन २४ अप्रैल को भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने भाषण दिया। उन्होंने अफ्रीकी-एशियाई देशो की स्वतन्त्रता और समानता पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि अफ्रीकी-एशियाई समस्याओं को विश्व-समस्या समझना चाहिए और उनका समाधान भी विश्व-समस्याओं के साथ होना चाहिए। अफ्रीका और एशिया के देश प्रगति की दौड़ में अब तक बहुत पीछे रहे हैं। अगर अब भी हम लोग प्रगति नहीं करेंगे तो फिर हम लोग गिरेंगे और काफी समय तक उठ नहीं पायेंगें। नेहरू जी ने कहा कि योरप और अमेरिका के लोग यही सोचते हैं कि उनकी समस्यायें ही बड़ी विश्व-समस्यायें हैं और इसलिए विश्व को उन्हीं लोगों की बातें सुननी चाहिए। नेहरू जी ने प्रश्न करते हुए कहा—'हम लोग उनके झगड़ों और युद्धों में क्यों खींचे जायँ ! क्या हम लोग योरप, अमेरिका या रूस के लोगों की प्रतिलिपि

हैं ?" उन्होंने आगे कहा कि हम केवल एशिया अथवा अफ्रीका के लोग हैं और कुछ नहीं। रूस, अमेरिका अथवा योरप के किसी भी देश का अनुकरण करना हमारी आत्म-प्रतिष्ठा, हमारी नयी स्वतन्त्रता और हमारे नये उत्साह के विरुद्ध है। पं० नेहरू ने अफ्रीका के विषय पर भाषण करते हुए कहा कि अफ्रीका की घटनाओं से भयावह अन्य घटना नहीं हो सकती। एशिया वालों को चाहिए कि अपनी शक्ति के अनुसार अफ्रीका की सहायता करें।

उपर्युक्त नेताओं के अतिरिक्त बांडुङ्ग सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों के प्रतिनिधियों ने भी अपना विचार प्रकट किया। उसके अतिरिक्त वर्णवाद, जातिवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, निरस्त्रीकरण, पारमाणविक शक्ति, शीतयुद्ध, आर्थिक सहायता आदि विषयों पर भी विचार किया गया।

अफ्रीका और एशिया के नेताओं ने सर्वसम्मति से यह निश्चय किया कि सामूहिक सुरक्षा सन्धि या समझौते का प्रयोग किसी बड़े राष्ट्र के किसी विशेष हित के लिए न किया जाय और न किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर दबाव ही डालना चाहिए। उन लोगों ने कहा कि प्रत्येक राष्ट्र को संयुक्त राष्ट्र की घोषणा-पत्र द्वारा मान्य क्षेत्रीय सुरक्षा समझौते में शामिल होने का अधिकार है। उन लोगों ने पारमाणविक शस्त्रास्त्रों की उत्पत्ति, परीक्षण तथा प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की। नेताओं ने वर्णवाद, जातिवाद, तथा उपनिवेशवाद की भी कटु आलोचना की। उन लोगों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की विश्व सदस्यता के लिए भी माँग की।

अफ्रीका और एशियाई नेताओं ने आगे यह माँग की कि प्रत्येक देश को आत्म-निर्णय का अधिकार होना चाहिए और जो अब भी परतन्त्र हैं, उन्हें स्वतन्त्रता अविलम्ब मिलनी चाहिए। इस सम्मेलन ने यह भी निर्णय किया कि प्रत्येक राष्ट्र को एक समान समझना

चाहिए; एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं चाहिए; एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की क्षेत्रीय एकता के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए, अतिक्रमण की धमकी अथवा कार्य नहीं करना चाहिए; सभी अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा शांतिपूर्ण उपायों द्वारा होना चाहिए; पारस्परिक हितों और सहयोग के लिए प्रयत्न करना चाहिए; न्याय तथा अन्तरराष्ट्रीय कर्त्तव्यों के प्रति आदरभाव रखना चाहिए आदि।

आर्थिक विषयों पर भी विचार-विमर्श हुआ तथा कई महत्वपूर्ण निर्णय हुए। २६ राष्ट्रों ने पारस्परिक आर्थिक सहयोग बढ़ाने पर जोर दिया। अफ्रीकी-एशियाई राष्ट्रों ने माँग की कि आर्थिक उन्नति के लिए एक विशेष संयुक्त राष्ट्र-निधि-खोली जाय और निधि का अधिकांश भाग एशियाई अफ्रीकी राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति में लगाया जाय। सम्मेलन ने यह भी सुझाव रखा कि प्रारम्भिक वस्तुओं की अन्तरराष्ट्रीय माँग तथा मूल्य के निर्धारण के लिए सभी राष्ट्रों द्वारा सामूहिक प्रयत्न होना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो अन्तरराष्ट्रीय वस्तुओं के व्यापार के लिए एक सलाहकार समिति बने। सम्मेलन ने यह भी माँग की कि जीवन-बीमा-कम्पनियों तथा राष्ट्रीय और क्षेत्रीय बैंकों की स्थापना के लिए प्रोत्साहन दिया जाय, आदि।

अफ्रीकी तथा एशियाई राष्ट्रों के लिए सांस्कृतिक शिष्ट मण्डल के भेजने पर भी जोर दिया गया।

बांदुङ्ग सम्मेलन का महत्त्व

बांदुङ्ग सम्मेलन पहला सम्मेलन था जिसमें अफ्रीका तथा एशिया के नेताओं को एक साथ बैठकर विचार विमर्श करने का अवसर मिला। अब तक ये राष्ट्र छिटपुट थे, एक का दूसरे के लिए विचार तथा छोटी-छोटी बातों को लेकर लड़ पड़ते थे और बहुत कम ऐसे मौके मिलते थे

जिसमें दो चार अफ्रीकी और एशियाई देश साथ-साथ बैठते हों। बांदुङ्ग-सम्मेलन से उन पर एक सामूहिक उत्तरदायित्व आ गया। वे अनुभव करने लगे कि वे अब अकेले प्रगति नहीं कर सकते और न पृथक की नीति से ही उन्हें लाभ हो सकता है। एशिया और अफ्रीका के देशों में यह भावना आ गयी कि उनका भी अपना एक अस्तित्व है, वे पश्चिमी राष्ट्रों के पद चिन्हों का अनुकरण नहीं करेंगे, जो राष्ट्र स्वतन्त्र हैं उनकी रक्षा करेंगे, जो परतन्त्र हैं उन्हें आज़ादी दिलाने में सहायता देंगे। यही कारण है कि जब कभी संयुक्त राष्ट्र संघ में अफ्रीकी और एशियाई देशों की समस्या पर विचार होता है तो ये देश संयुक्त मत देते हैं या तटस्थ रहते हैं या विरोध करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में इस प्रकार एक प्रभावशाली अफ्रीकी और एशियाई देशों का गुट बन गया है। यही नहीं, बांदुङ्ग सम्मेलन ने विश्व-शांति के लिए एक नया मार्ग प्रशस्त किया। यदि राष्ट्र सह:अस्तित्त्व में विश्वास करने लगें, दूसरों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें, सबको समान और स्वतन्त्र समझें तो विश्व-शांति स्थापित हो सकती है। निरस्त्रीकरण सम्मेलन में केवल प्रस्ताव रखने से और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर आरोप करने से विश्व-शांति स्थापित नहीं हो सकती। इससे केवल युद्ध की आशंका बढ़ेगी और पारस्परिक-संबंध कटु होता जायगा।

बांदुङ्ग सम्मेलन ने 'सीटो' (Seato) राष्ट्रों में भी खलबली पैदा कर दी। अमेरिका को विशेषकर धक्का लगा। सीटो का जन्म फरवरी सन् १९५५ में हुआ था और इसमें कुल ८ देशों ने भाग लिया था जब कि बांदुङ्ग-सम्मेलन १८ अप्रैल '५५ को हुआ और इसमें २९ देशों ने भाग लिया। इस प्रकार बांदुङ्ग सम्मेलन की अपेक्षा सीटो के सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। तीन सीटो राष्ट्र—फिलिपाइन्स, श्याम और पाकिस्तान और कम्यूनिस्ट चीन ने भी बांदुङ्ग सम्मेलन की बैठकों में भाग लिया था। इस प्रकार अमेरिका की सीटो योजना डावाँडोल दिखाई देने लगा।

अमेरिका को यह भय होने लगा कि कहीं ये तीनों एशियाई राष्ट्र 'सीटो' से पृथक न हो जायँ। यही कारण है कि बांदुङ्ग सम्मेलन के समाप्त होते ही अमेरिकी परराष्ट्र मन्त्री श्री जान फास्टर डलेस को सीटो राष्ट्रों की यात्रा करनी पड़ी।

द्वितीय और तृतीय अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन

द्वितीय अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन मिश्र पर किये गये एँग्लो-फ्रेंच-इसराइल आक्रमण से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए, नवम्बर सन् १९५६ में हुआ था। मिश्र अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन का एक प्रमुख सदस्य है, अतः उसकी स्थिति पर विचार करना आवश्यक था। २६ जुलाई सन् १९५६ को कर्नल नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीय-करण किया। इससे ब्रिटेन और फ्रान्स चिढ़ गये, क्योंकि राष्ट्रीयकरण से उनके हितों को धक्का पहुँचा था। इसका परिणाम यह हुआ कि पहले इसराइल ने और बाद में इसराइल का पक्ष लेकर फ्रान्स और ब्रिटेन ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया। द्वितीय अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन ने एक स्वर से फ्रान्स ब्रिटेन की निंदा की तथा उन्हें आक्रामक घोषित किया।

तृतीय अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन विश्व की स्थिति पर विचार करने के लिए २६ दिसम्बर सन् १९५७ को मिश्र की राजधानी काहिरा में हुआ था। इसमें ४२ देशों के लगभग ४ सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका की एकता तथा तटस्थता की नीति पर पुनः जोर दिया गया। सम्मेलन ने साम्राज्यवाद का, चाहे वह पूरा हो अथवा अधूरा, राजनीतिक हो या आर्थिक, वर्णभेद हो, उपनिवेशवाद हो, सैनिक समझौते हों या सैनिक तैयारी, विरोध किया। शस्त्रीकरण और ध्वंसास्त्र को विश्व शांति के लिए खतरा तथा क्षेप्यास्त्रों को एशिया और अफ्रीका की प्रगति के लिए घातक बतलाया गया। "सीटो" और "बगदाद" जैसी सैनिक गुटबन्दियों की भी आलोचना

की गयी तथा उनका लक्ष्य आक्रामक बताया गया। इस सम्मेलन में बिना शर्त रूसी आर्थिक सहायता पर भी विचार किया गया।

पंचशील

पंचशील बांदुङ्ग सम्मेलन की एक महत्त्वपूर्ण देन है। इसी सम्मेलन में कम्यूनिस्ट चीन के प्रधान मन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई के सहयोग से भारतीय प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने पंचशील सिद्धान्त को जन्म दिया। इसकी मुख्य धारायें निम्नलिखित हैं—

(१) एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना।

(२) एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक कार्यवाही न करना।

(३) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।

(४) समानता तथा परस्पर लाभ की नीति का पालन करना, और।

(५) शांतिपूर्ण सहअस्तित्त्व की नीति का पालन करना।

श्री नेहरू तथा श्री चाऊ-एन-लाई के पंचशील सिद्धान्त का सम्मान आज अन्तरराष्ट्रीय जगत में अत्यधिक बढ़ गया है। अफगानिस्तान, चीन, मिश्र, नेपाल, जापान चेकोस्लावाकिया, सऊदी अरब, बर्मा, हिन्द चीन आदि अफ्रीकी एशियाई देशों ने पंचशील के अपने वैदेशिक, नीति का अंग मान लिया है। रूस, अमेरिका और ब्रिटेन ने भी पंचशील को सिद्धान्तः स्वीकार कर लिया है। लेकिन जिस प्रकार उपनिवेशवाद वर्णवाद, तथा निरस्त्रीकरण के संबंध में अमेरिका चुपचाप रहता है, सोवियत रूस ने पोलैण्ड और हंगरी के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया, इंग्लैण्ड ने मिश्र पर आक्रमण किया, उससे सिद्ध होता है कि ये राष्ट्र पंचशील के सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप में कार्यान्वित करने में असफल रहे।

सब से आश्चर्य की बात है कि पाकिस्तान ने पंचशील को मानने से इनकार कर दिया है। पाकिस्तान पंचशील को एक कम्यूनिस्ट देन समझता है। पश्चिमी राष्ट्रों के पदचिन्हों का अनुकरण करने वाला देश पाकिस्तान पंचशील को कम्यूनिस्टों की एक चाल समझता है। पाकिस्तान की दूसरा आपत्ति यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र में इस प्रकार के अनेक सिद्धान्त हैं। अतः पंचशील व्यर्थ है। निःसंदेह राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र में अनेक सिद्धान्त सन्निहित हैं लेकिन विश्व शांति की स्थापना में अब तक कोई भी सिद्धान्त सफल सिद्ध नहीं हुआ है। फिर, पंचशील के प्रतिपादकों ने कोई नये सिद्धान्त के आविष्कार का दावा नहीं किया है। उन लोगों ने पंचशील के रूप में केवल उन्हीं सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है जो राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र में है, जो व्यावहारिक हैं और जिनके कार्य के रूप में परिणत करने से विश्वशांति की स्थापना हो सकती है। इस प्रकार यदि पाकिस्तान पंचशील की उपेक्षा करता है, तो इसका अर्थ होता है कि वह राष्ट्रसंघ का घोषणापत्र की अवहेलना कर रहा है।

पाकिस्तान के अनुसार पंचशील की अपेक्षा निरस्त्रीकरण अधिक उपयुक्त है। निरस्त्रीकरण एक बड़ी समस्या है जिस पर वर्षों से वाद-विवाद चला आ रहा है। अभी तक बड़े राष्ट्रों में निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो पाया है। विश्वशांति पहले की अपेक्षा अब अधिक खतरे में है। अन्तरराष्ट्रीय तनातनी को बढ़ावा देने वाली कार्रवाइयाँ अब भी जारी हैं। अमेरिकी तथा रूसी गुटों की शस्त्रास्त्र की होड़ से युद्ध का आतंक बढ़ रहा है। निरस्त्रीकरण को सफल बनाने के लिए अनुकूल वातावरण की आवश्यकता है, जो तभी संभव है जब पंचशील के सिद्धान्तों का अनुकरण किया जाय।

प्रश्न यह उठता है कि एशिया और योरप के कुछ राष्ट्र पंचशील को क्यों नहीं मानते? क्या वे यह आशा नहीं करते कि दूसरे राष्ट्र उनकी

प्रादेशिक अखंडता और प्रभुसत्ता का सम्मान करेंगे? क्या वे यह नहीं चाहते कि वे पूर्ण स्वतन्त्र हों और उनसे साथ समानता का व्यवहार किया जाय? क्या वे अतिक्रमण और हस्तक्षेप को अच्छा समझते हैं? सभव है अतिक्रमण और हस्तक्षेप के ठीक-ठीक अर्थ के बारे में कुछ भ्रम हो, लेकिन सिद्धान्तः अहस्तक्षेप और अनाक्रमण के बारे में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वास्तव में इन देशों के शासक अपने को सैनिक सन्धियों में बाँध रखे हैं। वे विदेशी हस्तक्षेप को बुरा नहीं मानते क्योंकि अपने देशवासियों के हितों की अपेक्षा वे अपने पद की सुरक्षा के लिए अधिक चिन्तित रहते हैं।

आज के युग में जहाँ पारमाणविक शस्त्रास्त्रों की होड़ लगी हुई है पंचशील एक नया मार्ग प्रशस्त करता है जिसका अवलम्बन यदि विश्व के सभी राष्ट्र करें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि विश्व की सभी समस्यायें बड़ी सरलता से सुलझ सकती हैं।

३ फरवरी सन् १९५८ को प्रधानमन्त्री श्री नेहरू जी ने बम्बई की सार्वजनिक सभा में जो भाषण दिया उससे पंचशील के महत्त्व पर काफी प्रकाश पड़ता है। प्रधान मन्त्री ने कहा कि 'अगर विश्व को शीत-युद्ध से बचना है तो उसे पंचशील को अपनाना होगा क्योंकि दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। यदि ऐसा न हो सका तो वास्तविक युद्ध होगा। दो परस्पर विरोधी गुटों के शक्तिशाली देशों, अमेरिका और रूस के पास इतनी ताकत हो गयी है कि अगर इनमें लड़ाई हो तो पूरा विश्व ही नष्ट हो सकता है। भारत किसी गुट के साथ नहीं है और पंचशील उसकी विदेशी नीति का संरक्षण स्रोत है। अब तक पंचशील का प्रयोग चाहे जिस रूप में हुआ हो, हमारा दृढ़ मत है कि शीत-युद्ध से त्राण पाने के लिए विश्व के सामने इसके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं है। शीत-युद्ध और वास्तविक युद्ध के बीच पंचशील के सिवा और

दूसरा कुछ अस्तित्व ही नहीं रखता। या तो पंचशील रहेगा या फिर विनाशकारी युद्ध होगा।"

राष्ट्र निर्माताओं, राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों को एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि 'परमाणु युद्ध में बड़े राष्ट्रों को यदि जीवित रहना है तथा संसार में यदि मानवता को जीवित रहने देना है तो उन्हें सह-अस्तित्त्व के सिद्धान्तों को केवल मौखिक रूप में स्वीकार ही नहीं करना होगा वरन् उसे कार्यान्वित भी करना होगा। परमाणु युग के राजनीतिज्ञों को मानस इतिहास की राजनीतिज्ञों की अब तक की परम्परा भूल जानी चाहिए। गत डेढ़ सौ वर्षों में उनका जो स्वरूप रहा है उसे आमूल बदल देना होगा। इतना ही नहीं राजनीति के अब तक के आधारभूत माने-जाने तथ्यों को बहुत कुछ बदलना होगा। राष्ट्रीय दृष्टि के साथ अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि अपनानी होगी। व्यक्ति और समाज में, राष्ट्र और अन्तर राष्ट्र में सामंजस्य बैठाना होगा। किसी की रंचमात्र उपेक्षा सन्तुलन बिगाड़ देगी और सर्वनाश निकट आ जायगा।'

अध्याय ३

स्वेज नहर का राष्ट्रीकरण

(Nationalization of Suez Canal)

मिश्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर द्वारा आसवान बाँध के निर्माणार्थ धन जुटाने के लिए स्वेज़ नहर कम्पनी के राष्ट्रीकरण की घोषणा से साम्राज्य-लिप्सु विदेशी शक्तियों के रक्तिम इतिहास का एक अध्याय समाप्त हो जाता है। मिश्र राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए अत्यावश्यक आसवान बाँध के निर्माण में अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा सहायता देने से इनकार करने पर कर्नल नासिर ने २६, जुलाई १६५६ को स्वेज़ नहर-कम्पनी का राष्ट्रीकरण कर लिया।

लाल सागर को भूमध्य सागर से मिला, पूर्व और पश्चिम के याता-यात को सुगम बनाने वाली १०३ मील लम्बी नहर के बनाने का अधि-कार एक फ्रेंच इंजीनिअर 'डी लेसेप्स' ने सन् १८५६ में तुर्की सामाज्य के मिश्र स्थित प्रशासकीय प्रतिनिधि सैयद पाशा से प्राप्त किया था। मिश्री शासक ने धन के अभाव में अपने हिस्से को बेच दिया। ब्रिटेन के विख्यात् राजनीतिज्ञ डिसरायली के सुझाव पर ब्रिटिश सरकार ने इस हिस्से को खरीद लिया। ब्रिटेन ने क्रमशः इस नहर पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया और पूर्व में अपने साम्राज्य विस्तार का एक प्रमुख साधन बनाया।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रीय भावना की जो लहर फैली, उसके प्रभाव से मिश्र की जनता वंचित न रही। राष्ट्र की उन्नति में शाह एक बहुत बड़ा रोड़ा पड़ता था। अतः विदेशी शोषण और अंकुश का हटाना

अनिवार्य था। पहले तो मिश्री जनता ने शाह फारूख को गद्दी से उतारा और उसके बाद स्वेज़ नहर कम्पनी का राष्ट्रीकरण कर विदेशी प्रभाव का बिल्कुल लोप कर दिया।

राष्ट्रीकरण की प्रतिक्रिया

राष्ट्रीकरण की घोषणा के सम्बन्ध में अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री श्री डलेस ने कहा कि यह अन्तरराष्ट्रीय विश्वास को धक्का पहुँचाने वाला कार्य है। लेकिन श्री डलेस यह भूल गये कि मिश्री सरकार को यह कदम उठाने के लिए स्वयं श्री डलेस की नीति ने ही विवश किया। निर्माण कार्य में अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा सहायता का वचन पाकर मिश्री-जनता को निर्माण कार्य की सफलता के लिए पूर्ण विश्वास हो गया था। एकाएक उस वचन को वापस ले लेने पर मिश्री सरकार के पास अन्य कोई उपाय न रहा जिसके द्वारा वह अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या का भरण-पोषण कर सके। स्वेज़ नहर कम्पनी की शर्तबन्दी की अवधि स्वयं सन् १६६६ में समाप्त होने वाली थी। यदि श्री नासिर ने राष्ट्रोन्नति के निमित्त १३ वर्ष पूर्व ही स्वेज़ नहर कम्पनी का राष्ट्रीकरण कर लिया तो कोई अनुचित कार्य नहीं किया। इस नहर से होने वाली साढ़े छः करोड़ पौण्ड की वार्षिक आय से मिश्र अपने आस्वान बाँध का निर्माण करेगा।

ब्रिटेन राष्ट्रीकरण की घोषणा से स्तब्ध रह गया। उसने तुरन्त मिश्र के विरुद्ध आर्थिक नाकेबन्दी की घोषणा कर दी और मिश्र के ब्रिटेन पर ग्यारह करोड़ के पौण्ड पावने के भुगतान को भी रोक दिया। साथ-ही-साथ मिश्र के ब्रिटेन के बैंकों में जमा रकम के निकालने पर भी रोक लगा दी। राष्ट्र के नाम से प्रधान मंत्री श्री एन्थोनी इडेन ने जो आकाश-वाणी की, एक विशेष महत्त्व रखती है। इडेन ने अपने भाषण में कहा—"स्वेज़ नहर मिश्र के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। लेकिन हम सभी लोगों के लिए यह एक जीवन और मरण की समस्या है।"

"हम लोगों का संघर्ष मिश्र और उसकी जनता से नहीं है और न अरब-वासियों से है। हमारा संघर्ष नासिर से है।

"कर्नल नासिर की नीति फासीवादी नीति है और उसकी अवश्य अवहेलना करनी चाहिए।

"अगर नासिर सफल होता है तो हम लोगों में से प्रत्येक उसकी स्वेच्छा पर निर्भर रहेंगे। हम लोग इसे कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

श्री इडेन ने आगे कहा कि "नहर के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय योजना आवश्यक है, नहीं तो इस बड़े व्यापारिक राष्ट्र का जीवन मिश्र के हाथों में रहेगा।

"हम लोग बलपूर्वक कोई हल नहीं चाहते वरन् एक वृहत अन्तर-राष्ट्रीय समझौता।"

एक ओर तो पश्चिमी राष्ट्रों में नहर के राष्ट्रीकरण से सनसनी और उत्तेजना फैली, दूसरी ओर एशियाई राष्ट्रों में इस राष्ट्रीकरण से प्रसन्नता की लहर दौड़ पड़ी। सभी एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों ने नासिर के राष्ट्रीकरण को वैधानिक तथा सामयिकी बताया। उनका कहना है कि मिश्र को नहर का राष्ट्रीकरण करने का पूर्ण अधिकार है, क्योंकि वह मिश्र का ही एक भाग है। अरब राष्ट्रों ने भी सामूहिक रूप से मिश्र के इस कार्य का समर्थन किया। रूस और कम्यूनिस्ट चीन ने न केवल राष्ट्रीकरण का समर्थन ही किया बल्कि सहायता देने के लिए भी तैयार हो गया।

त्रिराष्ट्रों का सम्मेलन

स्वेज़ नहर कम्पनी के राष्ट्रीकरण से उत्पन्न समस्या पर विचार करने के लिए ब्रिटेन, फ्रान्स और अमेरिका के प्रतिनिधियों का २ अगस्त' ५६ को एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में श्री सिलविन लॉयड (ब्रिटेन), श्री क्रिश्चियन पिनो (फ्रान्स) और श्री डलेस (अमेरिका) ने भाग लिया।

श्री डलेस ने अपने वक्तव्य में कहा कि कोई निश्चित कदम उठाने के पहले हमें उसकी प्रतिक्रिया पर विचार कर लेना होगा।

श्री इडेन स्वेज़ नहर कम्पनी पर एक राष्ट्र के अधिकार को मानने के लिए तैयार न थे। ब्रिटेन में सैनिक तैयारी के लिए आज्ञा दे दी गयी।

अन्त में त्रिराष्ट्रों ने मिलकर यह निश्चिय किया कि २४ राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलायी जाय जो स्वेज़ नहर पर अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण पर विचार करे।

लन्दन सम्मेलन

३ अगस्त' ५६ को लन्दन से लौटने पर अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री श्री डलेस ने २४ राष्ट्रों के सम्मेलन के बारे में कहा कि पश्चिमी त्रिराष्ट्र तलवार का जवाब तलवार से देना नहीं चाहते। हम लोग सभी राष्ट्रों की जिनका सम्बन्ध स्वेज नहर से है, मंत्रणा लेना चाहते हैं क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र, मिश्र को लेकर, सभी राष्ट्रों के निर्णय का स्वागत करेगा और इस प्रकार एक हल निकल आयेगा; जिससे हिंसा की अनिवार्यता समाप्त हो जायगी।

१६ अगस्त' ५६ को लन्दन में होने वाले सम्मेलन के लिए निम्नलिखित २४ राष्ट्र चुने गये :—

मिश्र, फ्रान्स, इटली, नीदरलैण्ड, स्पेन, तुर्की, ब्रिटेन, रूस, आस्ट्रेलिया, लंका, डेनमार्क, इथिथोपिया, पश्चिमी जर्मनी, यूनान, भारत, हिन्दचीन, फारस, जापान, न्यूज़ीलैण्ड, नार्वे, पाकिस्तान, पुर्तगाल, स्वीडेन और अमेरिका।

उपर्युक्त राष्ट्रों में मिश्र और यूनान को छोड़कर अन्य सभी राष्ट्रों ने लन्दन सम्मेलन में भाग लिया। मिश्र का कहना था कि त्रिराष्ट्रों को इस प्रकार का सम्मेलन बुलाने का कोई अधिकार नहीं है। त्रिराष्ट्र स्वेज नहर कम्पनी को एक दूसरा रूप प्रदान करना चाहते हैं जो वास्त-

विकता से परे हो जिससे उनको मिश्र की राजसत्ता में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल सके। सम्मिलित होने की स्वीकृति देने के पूर्व भारत ने एक प्रश्न उठाया था—क्या सम्मिलित होने वाले राष्ट्र स्वेज नहर पर अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण करने की त्रिराष्ट्रों की योजना का समर्थन करने के लिए किसी प्रकार से बाध्य हैं? सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त होने पर भारत ने सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया।

यद्यपि लन्दन सम्मेलन का जन्म उग्र भावना के वातावरण में हुआ था, लेकिन शीघ्र ही उल्लेखनीय परिवर्तन होने लगे। इस सम्मेलन से स्पष्ट हो गया कि बल प्रयोग तथा उग्रता से काम लेने की नीति के बदले समझौते द्वारा इसे हल करने की भावना निरन्तर बलवती होती जा रही है।

श्री नेहरू और स्वेज-समस्या

१५ अगस्त' ५६ को भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने जो भाषण दिया उसका लन्दन सम्मेलन पर अत्यन्त अनुकूल प्रभाव पड़ा। नेहरू जी ने अपने भाषण में इस बात पर जोर दिया कि स्वेज-समस्या का हल सभी राष्ट्रों के लिए सम्मानजनक होना चाहिए और किसी को नीचा दिखाने वाला न होना चाहिए। इन विचारों से ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री इडेन के भाषण से जो उत्तेजनात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई थी, काफी शान्त हो गयी।

बल प्रयोग के बारे में श्री नेहरू ने चेतावनी दी कि बल प्रयोग से विश्वव्यापी युद्ध फैलने की आशंका है। न केवल भारत के प्रधान मन्त्री ने अपितु ब्रिटेन का प्रमुख समाचारपत्र "मैनचेस्टर गार्जियन" ने भी श्री इडेन की कड़ी आलोचना की, तथा राष्ट्रपति नासिर की हिटलर के साथ की गयी तुलना को अनुचित एवं सर्वदा अनुपयुक्त बतलाया।

डलेस-योजना

लन्दन सम्मेलन में पश्चिमी राष्ट्रों की तरफ से, मुख्यतया फ्रान्स, अमेरिका और ब्रिटेन की ओर से एक योजना प्रस्तुत की गयी जो निम्नलिखित है :—

पहला, स्वेज नहर के संचालन के लिए एक निश्चित योजना बनाई जाय जिससे किसी भी समय किसी भी शक्ति द्वारा नहर का उपयोग किया जा सके।

इस योजना के लिए आवश्यक है कि—

(१) नहर के संचालन में किसी भी राष्ट्र के राजनीति का प्रभाव न हो।

(२) मिश्र की राज-सत्ता के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया जाय।

(३) नहर के उपयोग के बदले मिश्र को एक उचित मुआवजा दिया जाय जो क्रमशः उसके अधिकाधिक उपयोग के साथ बढ़ता जायगा।

(४) अन्तरराष्ट्रीय स्वेज नहर कम्पनी को भी जो उचित समझा जायगा, मुआवजा दिया जायगा।

(५) नहर कर जहाँ तक संभव हो कम रखा जाय और (३) छोड़कर कोई मुनाफा न किया जाय।

दूसरा, स्थायी एवं विश्वसनीय आधार पर सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि—

(१) नहर के संचालन, देखभाल, उन्नति तथा उसके हितों की पूर्ण रक्षा के लिए मिश्र और नहर से सम्बन्धित राष्ट्रों के बीच सहयोग स्थापित किया जाय।

इसके लिए एक स्वेज नहर-बोर्ड स्थापित किया जायगा, जो नहर के संचालन, देखभाल तथा उन्नति एवं वृद्धि के लिए उत्तरदायी होगा।

इस बोर्ड को मिश्र सभी अधिकारों एवं सुविधाएँ को सौंप देगा जो नहर के संचालन के लिए आवश्यक होगी।

इस बोर्ड के सदस्य मिश्र के अतिरिक्त अन्य राष्ट्र होंगे जिनका चुनाव एक निर्धारित प्रणाली द्वारा होगा। उनका चुनाव करते समय उनके व्यापार-भौगोलिक वितरण तथा नहर के प्रयोग पर ध्यान दिया जायगा।

यह बोर्ड समय-समय पर संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपना रिपोर्ट भेजता रहेगा।

(२) नहर के संचालन से सम्बन्धित सभी प्रश्नों जैसे—मिश्र का हिस्सा, अन्तरराष्ट्रीय स्वेज नहर कम्पनी का मुआवजा आदि के निपटारे के लिए एक कमीशन संगठित होगा।

(३) किसी भी राष्ट्र द्वारा इन नियमों का उल्लंघन संयुक्त राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों का उल्लंघन समझा जायगा।

(४) जहाँ तक आवश्यक होगा, संयुक्त राष्ट्र संघ के उचित सहयोग के लिए प्रबन्ध किया जायगा।

डलेस योजना को चार राष्ट्रों (भारत, रूस, इन्डोनेशिया और लंका) के अतिरिक्त अन्य सभी राष्ट्रों ने स्वीकार किया।

मेनन-योजना

डलेस योजना के पश्चात् भारत के विभाग रहित मन्त्री श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने, जो लन्दन सम्मेलन में भाग लेने वाले भारतीय दल का नेतृत्त्व कर रहे थे, अपनी योजना प्रस्तुत की, जो ६ सिद्धान्तों पर आधारित थी :—

(१) मिश्र की राजसत्ता (Sovereign Rights) को मान्यता दी जाय।

(२) स्वेज नहर को मिश्र का एक अविच्छेद्य अंग माना जाय।

(३) सन् १८८८ के शर्तनामा के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को नाविक सुविधा मिले।

(४) नहर-कर उचित और समान हो तथा नहर संबंधी सुविधायें सभी राष्ट्रों को बिना पक्षपात के उपलब्ध हों।

(५) नहर को प्रत्येक समय उचित दशा में रखी जाय तथा नहर-संबंधी आधुनिक टेक्निकल आवश्यकताओं से युक्त हो।

(६) नहर उपयोग-कर्ताओं के हितों पर भी पूर्ण ध्यान दिया जाय।

भारतीय योजना के समर्थकों में केवल रूस, हिन्दचीन और लंका ही रहे। लेकिन भारतीय योजना मिश्र के विचारों में मिलती थी और मिश्र इस योजना को स्वीकार करने के लिए तैयार था। यद्यपि इस योजना के समर्थकों की संख्या नाम मात्र थी पर राजनीतिक क्षेत्रों में इसका अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

डलेस और मेनन-योजना

डलेस-योजना और मेनन-योजना में अन्तर होना स्वाभाविक था क्योंकि दोनों ऐसे राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जो सिद्धान्तः भिन्न हैं। एक पूँजीवाद का परिपोषक है, दूसरा समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। एक विनाशकारी एवं विध्वंसक शस्त्रों का बहिष्कार कर विश्व-शान्ति चाहता है, दूसरा इन शस्त्रों का अधिकाधिक उत्पति कर विश्व-शान्ति चाहता है।

पश्चिमी राष्ट्र स्वेज नहर को एक राष्ट्र द्वारा संचालित देखना नहीं चाहते थे। अतः डलेस योजना अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण के पक्ष में था। वह चाहता था कि अन्तरराष्ट्रीय स्वेज नहर कम्पनी द्वारा नहर का संचालन किया जाय और इस कम्पनी को सभी अधिकार प्राप्त हों। श्री

मेनन के अनुसार डलेस योजना ने एक नये राजनीतिक सिद्धान्त को जन्म दिया और वह यह है कि एक राज्य प्रभुता-सम्पन्न होते हुए भी वह अपने राजसत्ता का उपयोग नहीं कर सकता। यह एक विचित्र सिद्धान्त है। वास्तव में राजसत्ता के लोप में राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

श्री मेनन ने अपनी योजना में दोनों के हितों की रक्षा कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया। एक ओर तो उन्होंने स्वेज़ नहर तथा तत्सम्बन्धी सुविधाओं को पश्चिमी राष्ट्रों के लिए उपलब्ध किया और दूसरी ओर मिश्र की राजसत्ता को मान्यता प्रदान कर स्वेज़ नहर को मिश्र का एक अविभाज्य अंग बनाया। उन्होंने अपनी योजना में केवल उन बातों को स्थान दिया, जिससे पश्चिमी राष्ट्रों के व्यापार पर कोई आघात न पहुँचे और न मिश्री राज्य की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचे। उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण को निरर्थक बतलाया क्योंकि इस प्रकार के नियन्त्रण से मिश्री राजसत्ता पर आघात पहुँचता था।

लन्दन सम्मेलन का परिणाम

लन्दन सम्मेलन पूर्ण असफल रहा। इस सम्मेलन का संगठन ही अनुचित ढंग से किया गया था। चार-पाँच राष्ट्रों को छोड़कर अन्य सभी राष्ट्र तीन बड़े पश्चिमी राष्ट्रों, अमेरिका, फ्रान्स और ब्रिटेन के पिट्ठू थे और उनके इशारों पर नाचने वाले थे। अधिकांश राष्ट्र का विविध सैनिक समझौतों—नाटो (N.A.T.O), सिटो (S.E.A.T.O) बगदाद पैक्ट (Baghdad Pact) आदि से सम्बन्ध था। अपना बहुमत बनाने के उद्देश्य से इन त्रिराष्ट्रों ने इन राष्ट्रों को चुना था। वास्तव में, लन्दन सम्मेलन में उन सभी राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया था जिनका सन् १८८८ के समझौते से सम्बन्ध था। इस प्रकार लन्दन सम्मेलन का असफल होना स्वाभाविक था।

फिर भी, लन्दन सम्मेलन से एक लाभ अवश्य हुआ। सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि बहुमत से पास प्रस्ताव को लेकर आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री श्री मेंज़ीज मिश्र जायँ और राष्ट्रपति नासिर से वार्ता करें।

इस पर श्री कृष्ण मेनन ने आपत्ति उठाई। उन्होंने कहा कि बहुमत से पास प्रस्ताव के साथ भारतीय प्रस्ताव को राष्ट्रपति नासिर के सामने रखा जाय। रूस के परराष्ट्र मन्त्री श्री शेपिलोव और लंका के सर क्लाड कोरिया ने मेनन के प्रस्ताव का समर्थन किया।

अन्त में यह निश्चय हुआ कि लन्दन सम्मेलन की सभी कार्रवाइयों को मिश्र भेजा जाय।

श्री मेंज़ीज की राष्ट्रपति नासिर से वार्ता

३ सितम्बर' ५६ से काहिरा में मिश्र के राष्ट्रपति तथा पश्चिमी राष्ट्रों की समिति के अध्यक्ष श्री मेंज़ीज के बीच ऐतिहासिक विचार विनिमय प्रारम्भ हुआ।

नहर के अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण के विषय को लेकर श्री मेंज़ीज और श्री नासिर में बराबर मतभेद रहा। श्री नासिर का कहना था कि अट्ठारह राष्ट्रों की योजना का मुख्य ध्येय मिश्र के हाथों से स्वेज़ नहर लेकर दूसरों के हाथों में रखना है। इससे समस्या का अन्त नहीं, वरन् सूत्रपात होगा।

पश्चिमी राष्ट्रों की द्वितीय योजना—स्वेज़ नहर-सहकारी-उपभोक्ता-संघ

१२ सितम्बर' ५६ को ब्रिटेन की लोक-सभा में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री श्री इडेन ने स्वेज़ नहर-सहकारी-उपभोक्ता-संघ की घोषणा की। उन्होंने कहा कि ब्रिटेन, फ्रान्स तथा अमेरिका एक उपभोक्ता संघ का गठन कर रहे हैं जो स्वेज़ नहर के यातायात के संचालन की जिम्मेदारी अपने

हाथों में लेगा। यदि मिश्र की सरकार ने इस संघ के साथ सहयोग न किया तो वह सन् १८८८ के समझौते को तोड़ने का दोषी होगा। श्री इडेन ने आगे कहा कि सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष को इसकी सूचना दे दी गयी है 'जिससे आवश्यकता पड़ने पर आवश्यक कार्रवाई की जा सके।'

फ्रान्स के प्रधान मन्त्री श्री मोले ने इसी दिन उपभोक्ता-संघ के संगठन की घोषणा की और कहा कि यदि ब्रिटेन, फ्रान्स द्वारा संघटित स्वेज़ नहर-सहकारी-उपभोक्ता-संघ को मिश्र ने मान्यता न दी तो प्रत्येक देश अन्तराष्ट्रीय स्वेज़ नहर पर अपने अधिकार के निमित्त आवश्यक कार्रवाई करने के लिए स्वतन्त्र होगा।

श्री इडेन के भाषण की प्रतिक्रिया

१३ सिम्तबर' ५६ को लोकसभा में प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने श्री इडेम के भाषण पर आश्चर्य और खेद प्रकट किया। उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों के निश्चय को खतरनाक सम्भावनाओं तथा परिणामों से परिपूर्ण बतलाया। उन्होंने इस घोषणा को ऐसा हल बतलाया जो मानों ऊपर से लादा गया हो और जिसमें संघर्ष के बीज विद्यमान हों।

१६ सितम्बर' ५६ की रात में स्वेज़ नहर-सहकारी-उपभोक्ता संघ के संगठन के बारे में राष्ट्रपति नासिर ने घोषणा की कि यदि पश्चिमी-राष्ट्र संघ के संचालन के लिए शक्ति का प्रयोग करेंगे तो युद्ध अवश्यम्भावी है। मिश्र संघ द्वारा स्वेज़ नहर का संचालन होने नहीं देगा। मिश्र सभी आक्रमणों का सामना करने के लिए तैयार है।

अमेरिका ने नरम रास्ता अपनाया। वह आर्थिक दबाव डालने के पक्ष में था। श्री डलेस ने अपनी घोषणा में कहा कि यदि स्वेज़ नहर-सहकारी-उपभोक्ता-संघ के तत्त्वावधान में ज़हाज़ें स्वेज़ नहर से पास होती हैं और मिश्र उन्हें बलपूर्वक रोकता है तो अमेरिका अपने जहाज़ों

को केप ऑफ गुड होप द्वारा भेजेगा। यद्यपि यह रास्ता लम्बा है, फिर भी वह अन्य राष्ट्रों को इस लम्बे रास्ते द्वारा अपने जहाज़ों को भेजने के लिए कहेगा तथा समुचित सहायता प्रदान करेगा। इस प्रकार जब नहर-उपयोग कर्त्ताओं की संख्या कम हो जायगी तो आर्थिक दबाव में आकर मिश्र को इस संघ को मान्यता देनी ही पड़ेगी।

स्वेज़ नहर-सहकारी-उपभोक्ता-संघ

१८ सितम्बर' ५६ को लन्दन में तीन परराष्ट्र मन्त्रियों—श्री जान फास्टर डलेस (अमेरिका), श्री सिलविन लॉयड (ब्रिटेन) और श्री क्रिश्चियन पिनो (फान्स) की एक बैठक हुई जिसमें यह निर्णय हुआ कि स्वेज़ नहर-सहकारी-उपभोक्ता-संघ की योजना को १८ राष्ट्रों के सम्मुख रखा जाय। उन लोगों ने मिश्र का सहयोग प्राप्त करने के बारे में भी विचार किया।

संघ को १८ राष्ट्रों का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो सका। कई राष्ट्रों ने अपना पृथक मत प्रकट किया। सबसे अधिक विरोध पाकिस्तान की ओर से हुआ। पाकिस्तान के परराष्ट्र मन्त्री श्री फिरोज़ खाँ नून ने संघ-योजना का विरोध करते हुए कहा कि पाकिस्तान इस योजना का साथ नहीं दे सकता। उन्होंने अपील की कि मिश्र से पुनः समझौते के लिए प्रयत्न किया जाय। स्वीडन, ईरान, नार्वे और स्पेन के प्रतिनिधियों ने भी पाकिस्तान के सुझाव का समर्थन किया। डैनिश प्रधान मन्त्री ने यह राय दी कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस समस्या को सुलझाने के लिए कहा जाय।

स्वेज़ नहर-सहकारी-उपभोक्ता-संघ की स्थापना के बारे में १८ राष्ट्रों की निम्नलिखित स्थिति रही :—

पक्ष में—ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, नार्वे, पश्चिमी जर्मनी, इटली और नीदरलैण्ड।

विपक्ष में—पाकिस्तान ।

अनिर्णित —डेनमार्क, ईरान और स्वीडन ।

अघोषित —इथियोपिया, जापान, पुर्तगाल, स्पेन और तुर्की ।

सुरक्षा-परिषद् और स्वेज़ नहर

२३ सितम्बर, ५६ को ब्रिटेन और फ्रान्स ने अपने देशों के स्थायी प्रतिनिधियों को यह आज्ञा दी कि वे लोग सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष से मिलकर सुरक्षा-परिषद् की अधिवेशन के लिए बात करें ।

२४ सितम्बर' ५६ की रात को मिश्र की सरकार ने भी सुरक्षा परिषद के आवश्यक अधिवेशन के लिए अनुरोध किया ।

५ अक्टूबर' ५६ से सुरक्षा परिषद् की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक बैठक आरम्भ हुई ।

सुरक्षा परिषद् के सम्मुख पाँच प्रस्ताव रखते हुए ब्रिटेन के परराष्ट्र मन्त्री श्री सिलविन लॉयड ने ब्रिटेन के दो उद्देश्यों पर प्रकाश डाला । पहला, पश्चिमी राष्ट्र इस अन्तरराष्ट्रीय जल-मार्ग से होकर स्वतन्त्र आवागमन के अधिकार को बनाये रखने के लिए करबद्ध है । यह स्वतन्त्रता केवल पश्चिमी राष्ट्रों के लिए ही नहीं वरन् सभी राष्ट्रों के लिए होगी जो नहर पर निर्भर हैं । दूसरा, पश्चिमी राष्ट्र समझौते द्वारा शांतिमय हल चाहता है और समझौते का एक आधार प्रस्तुत करना चाहता है जो उपभोक्ताओं और मिश्र दोनों के लिए उचित हो । इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त पश्चिमी राष्ट्र सुरक्षा परिषद् की अनुमति चाहता है ।

ऐंग्लो-फ्रेंच के पाँच प्रस्ताव निम्नलिखित थे :—

(१) स्वेज नहर समझौते के अनुसार नाविक स्वतन्त्रता हो ।

(२) स्वेज नहर उपभोक्ताओं के हितो एवं अधिकारों की पूर्ण रक्षा हो ।

(३) न्याय के आधार पर १८ राष्ट्रों द्वारा स्वेज नहर की समस्या के शांतिमय हल के लिए रखे गये प्रस्तावों को मान्यता मिले।

(४) मिश्र को इन प्रस्तावों के आधार पर समझौता करने के लिए प्रेरित किया जाय और इस प्रकार वह नहर के संचालन में सहयोग प्रदान करे।

(५) मिश्र की सरकार को स्वेज नहर उपभोक्ता सहकारी संघ के साथ सहयोग देने के लिए कहा जाय।

अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री श्री डलेस ने सुरक्षा परिषद् से अनुरोध किया कि एंग्लो-फ्रेंच प्रस्ताव पर मत ले लिया जाय और परिषद् की एक गुप्त बैठक की जाय।

सुरक्षा परिषद् की गुप्त बैठक

सुरक्षा परिषद् की गुप्त बैठक के महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। ब्रिटेन, फ्रान्स और मिश्र ने स्वेज नहर समस्या के लिए ६ सिद्धान्तों के समझौते का आधार माना। लेकिन इन सिद्धान्तों को कार्यरूप में कैसे परिणत किया जाय, इस विषय पर तीनों राष्ट्रों में मतभेद रहा।

६ सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

(१) नहर सब के लिए होगा और जहाजों के आवागमन में पूरी स्वतन्त्रता होगी।

(२) मिश्र की राजसत्ता का सम्मान किया जायगा।

(३) नहर का संचालन किसी भी देश की राजनीति से परे होगा।

(४) मिश्र और उपभोक्ताओं के बीच समझौते के अनुसार कर निश्चित किये जायेंगे।

(५) आमदनी का एक हिस्सा विकास के लिए रहेगा।

(६) मिश्र सरकार और स्वेज नहर कम्पनी के बीच होने वाले झगड़ों का निर्णय मध्यस्थता द्वारा होगा।

इन सिद्धान्तों में हम देखते हैं कि मेनन-योजना की अधिकांश बातें आ जाती हैं। पारस्परिक मतभेद के समाधान के लिए यह निश्चय हुआ कि २७ अक्टूबर '५६ से जेनेवा में मिश्र, ब्रिटेन और फ्रान्स का एक सम्मेलन बुलाया जाय।

द्वितीय मेनन-योजना

इसी बीच श्री कृष्ण मेनन ने स्वेज नहर समस्या के लिए एक दूसरी योजना प्रस्तुत की, जिसके अनुसार स्वेज नहर पर मिश्र का सर्वोच्च अधिकार होगा। यह योजना नहर को अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व का जलमार्ग स्वीकार करता है, जिससे होकर आने-जाने की नाविक स्वतन्त्रता प्रत्येक राष्ट्र को होगी।

इस योजना के अनुसार मिश्र नहर-अधिकारी तथा उपभोक्ताओं के बीच सहयोग बढ़ाने के लिए एक "उपभोक्ता संघ" को मान्यता देगी।

इस संघ का मुख्य कार्य मन्त्रणा देना होगा।

इस संघ के सदस्यों में प्रधान उपभोक्तागण होगें। सदस्यों के चुनाव में भौगोलिक प्रतिनिधित्त्व पर भी ध्यान दिया जायगा।

योजना के अनुसार प्रतिनिधित्त्व का आधार इस प्रकार होगा—

फ्रान्स, ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, मिश्र, भारत, जापान, एक प्रतिनिधि आस्ट्रेलिया से, एक दक्षिणी-पूर्वी एशिया से, एक मध्यपूर्व से, एक अफ्रीका से, एक पूर्वी योरप से, एक दक्षिणी योरप से, एक उत्तरी मिश्र से, एक पश्चिमी योरप से और एक लैटिन अमेरिका से।

नहर के सफल संचालन के लिए एक 'नहर कोड' (Canal code) होगा जो नहर के लिए नियम का कार्य करेगा।

मिश्र एक ऊँचे स्तर पर संयुक्त राष्ट्र द्वारा नहर अधिकारी के तीन मुख्य विभागों में तीन वर्ष के लिए पहली बार विशेषज्ञों की नियुक्ति करेगा।

कर की वृद्धि के लिए मिश्र की सरकार को उपभोक्ता संघ की अनुमति लेनी पड़ेगी। मतभेद की दशा में, प्रश्न को मध्यस्थता के लिए प्रेषित किया जायगा।

योजना सन् १८८८ के समझौते में भी संशोधन चाहता है जिससे (क) मिश्र अधिक से अधिक कर लगा सके और (ख) वह नहर की देखभाल एवं विकास के लिए स्वयं उत्तरदायी हो सके।

समझौते के आधार के बारे में भारतीय सरकार यह चाहती है कि मिश्र की राजसत्ता को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों के अनुसार स्वेज नहर-समस्या का शांतिपूर्वक तथा उचित हल होना चाहिए।

युद्ध के पूर्व का वातावरण

जैसा कि पहले कह चुके हैं, १२ अक्टूबर के संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्वेज-नहर के संचालन के लिए ६ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। १३ अक्टूबर को इन सिद्धान्तों की स्वीकृति के निमित्त सुरक्षा-परिषद् के सम्मुख रखा गया। इंग्लैण्ड ने ६ सिद्धान्तों के साथ यह भी माँग की कि नहर का अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण होना चाहिए। ६ सिद्धान्तों को सुरक्षा-परिषद् ने बिना मतभेद पास कर दिया। इंग्लैण्ड की माँग पर मतभेद बढ़ा। रूस ने अपना 'वीटो' (Veto) के अधिकार का उपयोग किया। पारस्परिक मतभेद बना रहा।

१६ अक्टूबर '५६ को श्री इडेन पेरिस पहुँचे। फ्रान्सीसी प्रधान मन्त्री श्री मोलेट और परराष्ट्र मन्त्री श्री पिनो से ४ घण्टे तक गुप्त वार्ता हुई। लन्दन लौटने पर श्री इडेन ने बताया कि स्वेज के मामले में दूसरे कदम पर इंग्लैण्ड और फ्रान्स सहमत हो गये हैं। दूसरा कदम क्या था—संसार इससे अनभिज्ञ था।

२३ अक्टूबर '५६ को परराष्ट्र मन्त्री पिनो, इडेन और सिलविन लायड से वार्ता करने लन्दन पहूँचे। श्री पिनो इसराइली आक्रमण के ६

दिन पूर्व लन्दन पहुँचे थे। इसी दिन से हंगरी में भी उपद्रव का श्रीगणेश हुआ। इस समय तक फ्रान्स और इसराइल के बीच सैनिक गतिशीलता बहुत बढ़ गयी थी।

१६ अक्टूबर '५६ से अर्थात् जब से इडेन और मोलेट की गुप्त सभा पेरिस में हुई, तब से अमेरिका तथा फ्रान्स और इंग्लैण्ड के बीच मतभेद बढ़ने लगा। लन्दन और पेरिस में स्थित अमेरिका के राजदूतों को इंग्लैण्ड और फ्रान्स के बीच हुई वार्ता की कोई सूचना नहीं दी गयी। वाशिंगटन में लगभग चार हफ्ते तक कोई ब्रिटिश राजदूत ही नहीं रहा। अमेरिका वाले यह समझते थे कि २७ अक्टूबर से होने वाली जेनेवा सम्मेलन को सफल बनाने के लिए फ्रान्स और इंग्लैण्ड में वार्ता चल रही है। इसराइली आक्रमण के एक सप्ताह पूर्व जब अमेरिकी राजदूत ने श्री सिलविन लायड से भेंट की तो श्री लायड ने यह सूचना दी कि जेनेवा के लिए न केवल वार्ता ही चल रही है बल्कि वह स्वयं न्यूयार्क जाना चाहते हैं और श्री जान फास्टर डलेस से मिलकर स्वेज-समस्या को शांतिमय उपाय द्वारा सुलझाना चाहते हैं। श्री डलेस को इसकी सूचना इडेन के 'अल्टिमेटम' देने के ४८ घन्टा पहले मालूम हुआ।

संसार को इसरायली सेना की गतिशीलता का पता सबसे पहले २७ अक्टूबर '५६ को लगा। अधिकांश पर्यवेक्षकों का अनुमान था कि आक्रमण जार्डन की ओर से होगा, क्योंकि जार्डन में हाल के निर्वाचन में कर्नल नासिर के साथियों की विजय हुई थी।

केवल २ सप्ताह पहले ब्रिटेन ने कड़े शब्दों में इसराइल को साधारण एवं गुप्त रूप से चेतावनी दी थी कि जार्डन के विरुद्ध कोई आक्रमण न किया जाय। लेकिन इस बार ब्रिटेन ने इसराल के बारे में केवल गुप्त रूप से पता लगाया और किसी प्रकार की चेतावनी नहीं दी। फ्रान्स ने भी कोई कदम नहीं उठाया।

अब केवल अमेरिका पर ही था कि वह कोई कदम उठाये। २८ अक्टूबर '५६ को राष्ट्रपति श्रीआइसनहावर और परराष्ट्र मन्त्री श्री डलेस ने सुरक्षा-परिषद् की अधिवेशन के लिए कदम उठाया। लोगों का कहना है कि ब्रिटेन दो दिन तक इस प्रयत्न में था कि अमेरिका द्वारा सुरक्षा-परिषद् का अधिवेशन न हो सके।

२६ अक्टूबर '५६ को इसराइल ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया।

इसराइली आक्रमण

इसराइली आक्रमण के पाँच कारण हो सकते हैं। सम्भवतः ब्रिटेन को इसके विषय में पहले से ही पता था, क्योंकि जिस समय यह समाचार इंग्लैण्ड पहुँचा उस समय सर इन्थोनी इडेन नार्वे के प्रधान मन्त्री को नं० १० डाउनिंग स्ट्रीट में दावत दे रहे थे और इस समाचार का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। यह भी संभव है कि इसराइली आक्रमण अपने निश्चित योजना से एक सप्ताह पूर्व हुआ हो।

कारण ये थे :—

(१) इसराइल यह सोच रहा था कि नासिर इसराइल पर आक्रमण करने के लिए तैयारी कर रहा है।

(२) मिश्र, जार्डन और सीरिया ने अपनी सेना के एकीकारण की घोषणा की थी।

(३) रूस हँगरी में फँसा था।

(४) अमेरिका राष्ट्रपति के निर्वाचन में व्यस्त था।

(५) इसराइल को इंग्लैण्ड और फ्रांस से प्रोत्साहन मिला था।

इसराइल के परराष्ट्र मन्त्री श्री डेविड बेन गुरियन की योजना इस प्रकार थी—

(१) सिनाई (Sinai Peninsula) में स्वेज नहर के पूर्व की मिश्री सेना को नष्ट तथा गाज़ा (Gaza) को प्राप्त करना।

(२) मिश्र की सैनिकों को अधिक से अधिक संख्या में बन्दी बनाना, उनके शस्त्रों पर अधिकार करना तथा मिश्र को एक शक्ति के रूप में नष्ट कर देना।

(३) सिनाई और गाज़ा के आधारों को नष्ट कर देना।

(४) अकाबा (Acaba) और इलाथ (Eloth) की खाड़ी के मार्ग को खोल देना।

कहना है कि ब्रिटिश राजदूत, आस्ट्रेलिया और कनाडा के मन्त्रियों को बेन गुरियन की इस योजना का पूरा पता था।

ब्रिटेन और फ्रान्स का युद्ध में सम्मिलित होना

३० अक्टूबर '५६ को मिश्र ने ब्रिटिश अल्टिमेटम को किसी भी दशा में स्वीकार करने से साफ इनकार कर दिया। साथ ही मिश्र के परराष्ट्र मन्त्री ने सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष को सुरक्षा परिषद के शीघ्र बुलाने तथा ब्रिटिश एवं फ्रांस द्वारा और शक्ति प्रयोग की चेतावनी पर विचार करने के लिए अनुरोध किया।

३० अक्टूबर को तीन ब्रिटिश और २ फ्रेंच विध्वंसक युद्ध पोत साइप्रस पहुँच गये।

सऊदी अरब, इराक, सीरिया और जार्डन की एक सभा हुई और मिश्र की सहायता करने का निश्चय हुआ।

ब्रिटेन और फ्रान्स ने अमेरिका के उस प्रस्ताव को जिसका आशय था कि सभी राष्ट्र-शक्ति के प्रयोग का परित्याग करें, ठुकरा दिया।

३१ अक्टूबर को इडेन ने मिश्र पर बमवर्षा करने के लिए अपने वायुयानों को भेजा।

राष्ट्रपति आइसनहावर ने कहा कि ब्रिटेन और फ्रान्स ने गलती से मिश्र पर आक्रमण किया है और अमेरिका इस मामलों में फँसना नहीं चाहता है।

भारत और एंग्लो-फ्रेंच आक्रमण

मिश्र पर इसराइल, ब्रिटेन, और फ्रान्स द्वारा किये गये आक्रमणों का भारत पर बड़ा ही कुप्रभाव पड़ा। भारतीयों की दृष्टि में ब्रिटेन और फ्रान्स बहुत ही नीचे गिर गये। प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने कहा कि 'मैंने अपने जीवन में ऐसा अतिक्रमण, जैसा ब्रिटेन और फ्रान्स कर रहे हैं, नहीं देखा।' (In all my experience of foreign affairs. I have come across no greater case of naked aggression than what England and France are trying to do.' (Pt. Nehru). १ नवम्बर '५६ को उन्होंने पश्चिमी एशिया की स्थिति पर राष्ट्रपति आइसनहावर, श्री डलेस, फ्रान्स के प्रधान मन्त्री श्री मोलेट, श्री इडेन, राष्ट्रपति नासिर को अपना व्यक्तिगत संदेश भेजा। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र के महामन्त्री से भी अनुरोध किया कि राष्ट्रसंघ को युद्ध रोकने के लिए सख्त कार्रवाई करनी चाहिए।

भारत के श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने यह माँग की कि भारत सरकार ब्रिटेश सरकार को एक अल्टिमेटम भेजे कि यदि वह २४ घन्टे के अन्दर मिश्र से अपनी सम्पूर्ण सेना हटा नहीं लेती और जो हानि पहुँची है उसके लिए मुआवजा देने के लिए वचन नहीं देती तो भारत राष्ट्र-मण्डल से पृथक हो जायगा।

राष्ट्रसंघ और ब्रिटेन

२ नवम्बर '५६ को एक विशेष बैठक में राष्ट्रसंघ ने युद्ध विराम (cease fire) संबंधी अमेरिकी प्रस्ताव को बहुमत से पास किया। ६४ वोट पक्ष में रहे। पाँच ने ब्रिटेन, फ्रान्स, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और इसराइल—विरोध किया और ६ राष्ट्रों ने—बेल्जियम, कनाडा, लायस, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल और दक्षिणी अफ्रीका—भाग नहीं लिया।

२ नवम्बर तक सिनाई और गाज़ा इसराइलियों के अधिकार में आ गया।

३ नवम्बर को श्री इडेन ने छोटी सभा में भाषण करते हुए मिश्र में की गयी सैनिक कारवाई को रोकने के लिए तीन शर्तें रखा—

(१) मिश्र और इसराइल के बीच शांति स्थापना के लिए राष्ट्र-संघ एक सेना तैयार करे।

(२) मिश्र और इसराइल इस सेना को स्वीकार करे।

(३) जब तक कि संयुक्त राष्ट्र की सेना तैयार नहीं हो जाती, इसरायल और मिश्र ऐंग्लों-फ्रेंच सेना को स्वीकार करें, जो दोनों देशों के बीच रहेगी।

जकार्ता हवाई अड्डे ने ब्रिटिश और फ्रांसीसी वायुयानों को कोयला-पानी देना बन्द कर दिया।

ब्रिटिश विदेशी नीति से असहमत होने के कारण मन्त्री श्री एन्थोनी नटिंग ने त्यागपत्र दे दिया है।

३ नवम्बर को मिश्र ने युद्ध-विराम के निर्णय को स्वीकार कर लिया।

३ नवम्बर '५६ से ब्रिटेन के हवाई आक्रमणों के कारण स्वेज़ नहर बिलकुल बन्द हो गया।

४ नवम्बर को इसराइल की सेना स्वेज़ नहर से केवल ३ मील रह गयी। अकाबा खाड़ी के दक्षिणी सिरे पर आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया।

लेबनान, सीरिया और इराक ने तेल के पाइप लाइनों को बन्द कर दिया।

५ नवम्बर '५६ को ब्रिटिश और फ्रान्सीसी सेना मिश्र में उतरी।

रूसी चेतावनी

रूस ने ब्रिटेन और फ्रान्स को चेतावनी दी कि पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र के अन्य सदस्य राष्ट्रों के सहयोग से शांति स्थापित करने के लिए कृतसंकल्प हैं। वे उस क्षेत्र में किये गये आक्रमण को शस्त्रबल से कुचलकर पुनः शांति स्थापित करने के लिए सन्नद्ध हैं। रूस ने सुरक्षा परिषद् से यह भी अपील की कि यदि ब्रिटेन, फ्रान्स और इसराइल १२ घन्टे के अन्दर युद्धबन्दी की घोषणा नहीं करते तो सुरक्षा परिषद् अपनी एक विशेष बैठक बुलाकर अमेरिका तथा रूस की सेना को मिश्र में प्रवेश करने अनुमति दे।

५ नवम्बर को राष्ट्रसंघ की साधारण सभा ने अन्तरराष्ट्रीय कमान के स्थापना सम्बन्धी महामन्त्री श्री हैमरशेल्ड के प्रस्ताव को पास कर दिया।

युद्ध-बन्दी की घोषणा

६ नवम्बर '५६ की रात को ब्रिटेन ने युद्ध-बन्दी (cease fire) की घोषणा की। ७ नवम्बर को पेरिस ने भी युद्ध-बन्दी की घोषणा की। राष्ट्र के नाम से श्री इडेन ने युद्ध-बन्दी के सम्बन्ध में जो भाषण दिया। उसमें उन्होंने यह बताया कि युद्ध-बन्दी की घोषणा न तो अपनी दुर्बलता के कारण की गयी, न किसी राजनीतिक दबाव के कारण हुई और न मास्को की धमकियों से हुई, बल्कि युद्ध-बन्दी इसलिए हुई कि ब्रिटेन ने एक ऐसी वातावरण को जन्म दिया है जिसमें राष्ट्र-संघ के नेतृत्व में स्थायी समझौते की पूर्ण आशा है।

वास्तव में ब्रिटेन द्वारा युद्ध-बन्दी की घोषणा के अनेक कारण थे—

(१) अभी तक ब्रिटिश और फ्रान्सीसी सेना केवल पोर्ट सईद के कुछ भागों पर ही अधिकार कर पायी थी।

(२) लक्ष्य तक पहुँचने, स्वेज़ नहर पर अधिकार करने तथा सभी अवरोधों को कुचलने में लगभग १ महीना और अत्यधिक सेना की आवश्यकता थी।

(३) रूस के हस्तक्षेप की चेतावनी आ चुकी थी।

(४) राष्ट्र संघ दबाव डाल रहा था।

(५) अमेरिका ने किसी प्रकार की सहायता करने से साफ इनकार कर दिया था।

(६) अरब राज्यों से तेल न मिलने का ख़तरा था।

(७) पाकिस्तान और विशेषकर भारत राष्ट्र-मण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद करने के प्रश्न पर बिचार कर रहे थे।

(८) टोरी दल के नरम पक्षवालों ने श्री इडेन को चेतावनी दी थी। एन्थोनी नटिंग और एडवर्ड बॉयल ने त्यागपत्र दे दिया था।

(६) मैकमिलन (Macmillan) जो अभी तक शक्ति-प्रयोग का समर्थक था, अपनी आवाज़ को बदल दिया था। ऐंग्लो-फ्रेंच आक्रमण, स्वेज़ नहर की बन्दी तथा तेल-पाइप लाइन के उड़ा दिये जाने से खज़ाना (Treasury) को गहरा धक्का लगा था जिसकी उपेक्षा मैकमिलन नहीं कर सकता था।

(१०) ब्रिटेन ने इसराइल और मिश्र को पृथक करने के लिए युद्ध में भाग लिया था लेकिन अब दोनों देशों ने युद्धबन्दी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था।

अतः विवश होकर श्री इडेन को युद्ध-बन्दी की घोषणा करनी पड़ी, जिसका फ्रान्स ने अनुकरण किया। इस प्रकार एक सप्ताह की लड़ाई समाप्त हुई।

स्वेज़ नहर का पुनः संचालन

इंग्लैण्ड और फ्रान्स द्वारा मिश्र पर आक्रमण किये जाने से स्वेज़ नहर का संचालन पूर्णतया बन्द हो गया था। कुल अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का

सातवाँ हिस्सा स्वेज़ नहर द्वारा होता था। अतः इसके बन्द हो जाने से अनेक राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति के बिगड़ने की सम्भावना प्रकट होने लगी। स्वेज़ नहर का पुनः संचालन अत्यन्त आवश्यक था। राष्ट्र संघ ने बड़ी तत्परता के साथ नहर की सफाई का कार्य अपने ऊपर लिया। बत्तीस देशों से जहाज़ मँगाये गये और ४५० व्यक्तियों की सहायता से नहर की सफाई की गयी। यह विशाल कार्य चार महीने से कम ही समय में पूरा हो गया और करीब नब्बे लाख पौण्ड रुपया व्यय हुआ।

अप्रैल '५७ से स्वेज़ नहर की स्थिति पूर्ववत् हो गयी है। लेकिन फिर भी कुछ ऐसी समस्यायें हैं जो उलझी हुई हैं। उनमें सबसे प्रथम है स्वेज़ नहर से सभी देशों के जहाज़ों का निर्बाध यातायात। दूसरी समस्या है मिश्र और इसराइल के बीच शांति-व्यवस्था कायम रखना। तीसरी समस्या है स्वेज़ संकट के फलस्वरूप पश्चिमी राष्ट्रों और सोवियट-रूस में सम्बद्ध क्षेत्रों को अपने प्रभाव में रखने की होड़। पहली और दूसरी समस्या बहुत कुछ एक ही सा है अरब देश इसराइल से पहले से ही चिढ़े हुए थे। फिर इसराइल, ब्रिटेन और फ्रान्स के हमले के बाद से उन देशों का सम्बन्ध और भी अधिक कटु हो गया। अब स्वेज़ नहर का राष्ट्रीकरण हो गया है। और मिश्र का इस पर पूर्ण नियन्त्रण है। जब तक मिश्र और इसराइली सीमा के बीच कोई शांति व्यवस्था नहीं हो जाती और मिश्र को यह विश्वास नहीं हो जाता कि इसराइल भविष्य में उस पर आक्रमण नहीं करेगा तब तक मिश्र इसराइल को स्वेज़ नहर से होकर व्यापार करने की अनुमति नहीं देगा। ब्रिटेन और फ्रान्स के संयुक्त आक्रमण से उनकी प्रतिष्ठा इस क्षेत्र में बिल्कुल कम हो गयी है। उनका स्थान अमेरिका धीरे-धीरे ले रहा है। ब्रिटेन और फ्रान्स जैसे उपनिवेश-वादी देशों का मित्र होने के कारण मिश्र अमेरिका से सशंकित रहता है। स्वेज़ संकट के समय रूस द्वारा स्वयं सेवक भेजने के प्रस्ताव आदि के कारण मिश्र का झुकाव रूस की ओर होना स्वाभाविक है।

मुआवज़ा सम्बन्धी समझौता

१३ जुलाई '५८ को स्वेज़ नहर कम्पनी के शेयरहोल्डरों और संयुक्त-अरब गणतंत्र के बीच मुआवज़ा देने की विधि पर समझौता हो गया। यह समझौता दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों द्वारा क़ाहिरा और पेरिस में अपने प्रधानों से मन्त्रणा लेने के बाद सम्पन्न हुआ। समझौते के अनुसार संयुक्त-अरब गणतंत्र ४६ प्रतिशत मुआवज़ा पौण्ड (स्टर्लिङ्ग) में तथा बाकी पौण्ड (स्टर्लिङ्ग) में या फ्रान्क में अदा करेगा। संयुक्त अरब गणतन्त्र पूरा मुआवज़ा बदले हुए ४० लाख मिश्री पौण्ड की ५ किस्तों में देगा। यह किस्त १ जनवरी १९५९ से आरम्भ होगी तथा ३० लाख मिश्री पौण्ड की अन्तिम किस्त १ जनवरी १९६४ को अदा की जायगी।

अध्याय ४

मध्यपूर्व और आइक सिद्धान्त

(Middle East and Ike Doctrine)

मध्यपूर्व अथवा पश्चिमी एशिया की परिभाषा देना उतना ही कठिन है जितना कि उसकी विविध समस्याओं को समझना। मध्यपूर्व में वे सभी देश आते हैं जो भूमध्यसागर, लालसागर और फारस की खाड़ी को मिलाते हैं। यह एक अर्थहीन मरुस्थल है जो तेल व भौगोलिक स्थिति के कारण एक अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व का क्षेत्र समझा जाता है। इतिहास के पृष्ठों को उलटने से यह ज्ञात होता है कि अनेक शक्तियों—बेबीलोनिया, कार्थेजिनिया, फारस, यूनान, रोम, ब्रिटेन तथा फ्रान्स ने इस भूभाग पर अधिकार करने की चेष्टा की परन्तु कोई भी अधिक दिनों तक टिक न सका। अब सम्भवतः रूस की बारी है

यह संसार का सबसे धनी और सबसे गरीब भाग है।

इस भाग का प्रमुख धर्म इस्लाम है।

मध्यपूर्वी देश बहुत से बातों में एक दूसरे से मिलते हैं जैसे जनसंख्या कम है, निरक्षरता है, राष्ट्रीय अभिमान है, पारस्पारिक झगड़ों का एक जाल-सा बिछा है, अस्थिरता है तथा सैनिक शासन की बहुलता है। सरकारों की अस्थिरता के कारण इन देशों का शासन सैनिकों के हाथ में पड़ जाता है।

मध्यपूर्व की वर्तमान राजनीति का अवलोकन करने के पूर्व मध्यपूव के देशों पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

मिश्र (Egypt)—मध्यपूर्व के देशों में राजनीतिक दृष्टि से मिश्र सबसे शक्तिशाली है। यह ब्रिटेन से चार गुना बड़ा है लेकिन आबादी उसकी आधी है। यद्यपि निवास क्षेत्र स्वीट्ज़रलैण्ड से कम है पर अत्यधिक घनी है।

सन् १६२२ से यह स्वतन्त्र है लेकिन सन् १६५२ में पाशा का राजतन्त्र समाप्त हुआ और प्रजातन्त्र राज्य की घोषणा हुई। वस्तुतः आजकल यहाँ एक व्यक्ति श्री गमाल अब्दुल नासिर का शासन है।

यहाँ न तो तेल है और न मध्यमवर्ग ही। ८० प्रतिशत लोग अशिक्षित हैं।

यहाँ की मुख्य उपज रुई है। रुई देकर शस्त्र लेने के अभिप्राय से मिश्र ने चेकोस्लाविया से सन् १६५५ में एक सन्धि की जिसके फलस्वरूप मिश्र इस क्षेत्र का सबसे प्रबल शक्ति बन गया।

कर्नल नासिर सम्पूर्ण अरब संसार का नेतृत्व करना चाहता है और इस क्षेत्र में उसका निकटतम प्रतिद्वन्दी इराक है। इराक की सैनिक क्रांति के पश्चात् यह विषमता भी जाती रही।

इराक (Iraq)—इराक ब्रिटेन से दो गुना बड़ा है। इसकी आबादी करीब ५० लाख है।

इराक संसार के धनी देशों में से एक है। हाल की घटनाओं के पूर्व इराक को तेल के स्वामित्त्व से प्रतिवर्ष के १० m. मिल जाता था। ब्रिटेन के तेल की आवश्यकता अधिकतर इराक से ही पूरी हो जाती थी लेकिन जबसे सीरिया के लोगों ने किरकुक (Kirkuk) से भूमध्य तक जानेवाली पाइप लाइन को काट दिया तब से ब्रिटेन को तेल में कठिनाई हो रही है।

इराक-बगदाद समझौते का जन्मदाता है। सैनिक क्रान्ति के पश्चात् से उसने बगदाद समझौते में भाग लेना ही बन्द कर दिया।

सीरिया (Syria) :—सीरिया के चालीस लाख जनता की ओर आज कल विश्व का ध्यान आकर्षित है। अरब राष्ट्र का यह प्रजातन्त्र दिन प्रतिदिन रूस के प्रभाव में आता जा रहा है।

कहा जाता है कि सीरिया ने अधिक मात्रा में शस्त्र, टैंक आदि खरीद कर अपनी सैनिक-शक्ति को काफी बढ़ा ली है।

आजकल सीरिया ने मिश्र में मिलकर संयुक्त अरब गणतन्त्र की नींव डाली है।

तुर्की (Turkey)—तुर्की अपने को योरप का ही अंग समझता है हालाँकि उसका बहुत ही छोटा अंश योरोपीय भाग में पड़ता है। चूकि समय सदैव समान नहीं रहता, तुर्की को लन्दन की मन्त्रणा से अपने को मध्यपूर्व का ही भाग मानना पड़ता है।

तुर्की ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसका सम्बन्ध 'नाटो' से है। इसके कई कारण हैं—पहला, यह कम्यूनिस्ट राष्ट्रों—बल्गेरिया, रूस और शाम से घिरा है; दूसरा, इसकी सेना अच्छी समझी जाती है; तीसरा, तुर्की लोग राजनीतिक दृष्टि से विश्वसनीय समझे जाते हैं अर्थात् वे रूसी लोगों को घृणा से देखते हैं।

मुस्लिम राष्ट्रों में केवल तुर्की ने ही इसराइल से सम्बन्ध रखा है।

सीरिया को हमेशा इस बात का भय लगता रहा है कि कहीं ब्रिटेन और फ्रान्स की सहायता से तुर्की और इसराइल उस पर आक्रमण न कर दें।

जार्डन (Jordon)—जार्डन को ब्रिटेन का एक आविष्कार कहा जा सकता है। ब्रिटेन ने सन् १९४६ में पलेस्टाइन संरक्षण में से काट-कर जार्डन को जन्म दिया। साथ ही साथ १० m. की वार्षिक सहायता भी देना स्वीकार कर लिया।

अधिक दिन नहीं हुए जब कि जार्डन ने ब्रिटिश समझौते को ठुकरा दिया, वार्षिक सहायता लेना अस्वीकार कर दिया।

सऊदी अरब, मिश्र और सीरिया ने मिलकर जार्डन को आर्थिक सहायता देना निश्चय किया है।

लेबनान (Lebanon)—लेबनान अरब राष्ट्रों में सबसे छोटा है। लेकिन सबसे शिक्षित राष्ट्र है।

शाम की भाँति लेबनान तेल का उत्पादन नहीं करता। उसका मुख्य आय तेल के पाइप लाइनों से है। यह देश व्यापारियों, रोकड़ियों तथा साहसी पुरुषों से भरा है। राजनीतिक क्षेत्र की अपेक्षा व्यापारिक क्षेत्र में यह देश बहुत आगे बढ़ा है।

सऊद अरब (Saudi Arabia)—यह अरब राष्ट्रों में सबसे बड़ा है। वह ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, और स्पेन के सम्मिलित देशों से भी बड़ा है।

इसका शासन मध्यकालीन प्रणाली से मिलता है। यह निरंकुश राज-तन्त्र है जिसका सर्वोच्च शासन, सेनापति और प्रधान मन्त्री राजा सऊद हैं।

तेल पर सऊद अरब का अधिकार होते हुए भी इस सम्पत्ति का अधिकांश भाग अन्य मध्यपूर्वी राष्ट्रों में बन्धक के रूप में बँट गया है।

जिस प्रकार जार्डन का संरक्षक अब तक ब्रिटेन था, उसी प्रकार आज अमेरिका सऊदी अरब का संरक्षक है।

इसराल (Israel)—इसराइल अपने ढंग का निराला राष्ट्र है। सन् १६४८ में इसका जन्म हुआ। शीघ्र ही यहूदियों को अरब निवासियों के विरुद्ध रक्तपूर्ण संघर्ष करना पड़ा जिसमें वे सफल रहे। आज अरब राष्ट्रों से वैमनस्य है।

इसने ६ लाख शरणार्थियों की एक समस्या छोड़ रखा है। संयुक्त-राष्ट्र संघ ने उनके बसाने के लिए काफी धन दिये, उनके प्रस्ताव रखे;

लेकिन शरणार्थी बस न सके और न समस्या का समाधान ही हो पाया।

इंग्लैण्ड और फ्रान्स से प्रोत्साहन पाकर अक्टूबर सन् १९५६ में स्वेज़ नहर पर अधिकार करने के निमित्त इसराइल ने आक्रमण किया, पर प्रयत्नों में विफल रहा। केवल गाज़ा भाग (Gaza Strip) पर अधिकार कर पाया। साथ ही उसे २ लाख अरब शरणार्थी हाथ लगे।

वर्तमान राजनीति में मध्यपूर्व

प्राचीन युग से मध्यपूर्व, विश्व राजनीति का केन्द्र रहा है। इसने अनेक सभ्यताओं के उत्थान और पतन देखे हैं। यही नहीं, यह दो धार्मिक आन्दोलनों—ईसाई और इस्लाम का जन्म-स्थान भी है।

मध्य युग के अन्त होते-होते इस भूभाग का महत्त्व भी समाप्त होने लगा था लेकिन आधुनिक आवागमन के साधनों के विकास के कारण मध्यपूर्व का महत्त्व फिर स्थापित हो गया।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व तुर्की साम्राज्य का इस क्षेत्र में अत्यधिक प्रभाव था। प्रथम महायुद्ध में तुर्की साम्राज्य नष्ट हो गया। युद्ध के पश्चात् जो संधियाँ हुईं उनके फलस्वरूप सीरिया फ्रान्स के अधीन चला गया और इराक, जार्डन तथा फिलस्तीन ब्रिटेन के अधीन। ईरान, सऊदी अरब, मिश्र और अफ़गानिस्तान आदि देशों पर पहले से ही ब्रिटेन का काफी प्रभाव था। सन् १९२३ में तुर्की पूर्ण स्वतन्त्र हो गया और कमाल-पाशा के नेतृत्व में तुर्की ने काफी प्रगति की। दूसरी ओर मिश्र में राष्ट्रीय-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, जिससे विवश होकर सन् १९२८ में ब्रिटेन ने मिश्र को स्वतन्त्र करने का वचन दिया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद मध्यपूर्व के राजनीतिक इतिहास को दो भागों में बाँट सकते हैं—पहला स्वेज़ युद्ध के पूर्व का काल, और दूसरा, उसके बाद का। सन् १९५६ के स्वेज़ युद्ध के पूर्व-काल में कोई विशेष घटना

नहीं घटी। सभी राष्ट्र यह प्रयत्न करते रहे कि उनके देशों से ब्रिटेन का प्रभाव समाप्त हो जाय। महायुद्ध के कारण ब्रिटेन बहुत कमज़ोर हो चुका था और उसका पतन आरम्भ हो गया था। फिर उसके पास इतने साधन नहीं रह गये थे जिसके आधार पर वह इतने बड़े साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचा सके। अरब देशों में राष्ट्रीयता की लहर फैल चुकी थी। वे पहले से अधिक जागरूक हो राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता की माँग करने लगे थे। अपनी माँगों को अधिक बल प्रदान करने के अभिप्राय से अरब राष्ट्रों ने संयुक्त मोर्चा बनाना आरम्भ किया। अरब-लीग की स्थापना हुई। अरब-लीग की स्थापना का दूसरा भी कारण था। सन् १९४८ में अमेरिका ने अरब राष्ट्रों के बीच इसराइल का निर्माण किया। इसराइल के ख़तरे से इस लीग की एकता को और अधिक सहायता मिली।

इसराइल के निर्माण के साथ मध्य-पूर्व की राजनीति ने पलटा खाया। रूस अच्छी तरह जानता था कि अरब राष्ट्र इसराइल को घृणा की दृष्टि से देखेगा और इसराइल कभी भी रूस का साथ नहीं देगा। अतः रूस अरब राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगा और अमेरिका के विरुद्ध अरब भावनाओं को भड़काना शुरू किया। यह अमेरिका के लिए सिरदर्द बना और बढ़ते हुए रूसी प्रभाव को मिटाने के लिए अमेरिका प्रयत्न करने लगा। इस प्रकार मध्य-पूर्व विश्व राजनीति का मुख्य केन्द्र बन गया।

यही नहीं; मध्य-पूर्व के देशों की स्थिति भी ऐसी है जो विदेशी हस्तक्षेप को आमंत्रित करती है। सामन्तशाही का बोलबाला है। धर्म और राजनीति एक है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का कहीं नाम निशान नहीं है। अज्ञानता, निरक्षरता, गरीबी चारों तरफ फैला है। प्रत्येक राष्ट्र के पास सेना कम और कमज़ोर है। इसके अतिरिक्त अरब राष्ट्रों में पारस्परिक

झगड़े हैं। एक राष्ट्र दूसरे की उन्नति नहीं देख सकता। आपस में धार्मिक कटुता भी है। सभ्यता की दौड़ में काफी पिछड़े हुए हैं।

यह सब होते हुए भी द्वितीय महायुद्ध के बाद मध्य-पूर्व में राष्ट्रीयता की भावना काफी जोर पकड़ने लगी। ब्रिटेन के प्रभाव को मिटाने के लिए सबसे पहले मिश्र ने सन् १९३६ में आंग्ल-मिश्री सन्धि समाप्त करने की माँग की। इराक और जार्डन में भी इंग्लैण्ड द्वारा लादी गई सन्धियों को रद्द करने की माँग होने लगी। आर्थिक स्वतन्त्रता पाने के लिए सबसे पहले ईरान ने डाक्टर मुसद्दिक के नेतृत्व में कदम उठाया और आंग्ल-इरानी तेल कम्पनी का राष्ट्रीकरण कर दिया। सन् १९५५ में बगदाद-सन्धि हुई। इराक और ईरान इस सन्धि के सदस्य हो गये। मिश्र और सीरिया ने इस सन्धि का विरोध किया। जार्डन को इस सन्धि में सम्मिलित होने के लिए दबाव डाला गया, जिससे वह देश अन्तरराष्ट्रीय राजनीति का अखाड़ा बन गया। अपनी रक्षा के लिए मिश्र और सीरिया ने रूस से सैनिक हथियार खरीदना शुरू कर दिया। पश्चिम के साम्राज्य-वादी राष्ट्र इस आदान-प्रदान को कभी सह नहीं सकते थे। पश्चिमी राष्ट्रों ने मिश्र को जो आर्थिक सहायता देने का आश्वासन दिया था, सब बन्द कर दिया; जिसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। मिश्र द्वारा स्वेज़ नहर का राष्ट्रीकरण हुआ जिससे चिढ़कर इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने मिलकर मिश्र पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण को रोकने के लिए रूस को चेतावनी देनी पड़ी, जिससे मध्य-पूर्व में साम्यवाद का प्रभाव बढ़ने लगा।

स्वेज़ नहर के बाद से मध्य-पूर्व का समकालीन राजनीति का दूसरा अध्याय प्रारम्भ होता है। इस युद्ध से ब्रिटेन की प्रतिष्ठा को काफी धक्का पहुँचा और उसकी राजनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक प्रभाव मध्य-पूर्व से सदा के लिए अन्त हो गया। जब अंग्रेजों का प्रभाव बिलकुल नष्ट हो गया तो कहा गया कि मध्यपूर्व में 'राजनीतिक शून्यता' (Political Vacuum) हो गयी है। इस 'राजनीतिक शून्यता' की पूर्ति के लिए

अमेरिका ने 'आइक सिद्धान्त' (Ike Doctrine) को जन्म दिया जो मध्यपूर्व में संकट और कलह का दूसरा कारण बना। जार्डन और सीरिया में हाल में जो घटनायें घटीं, वे इसी सिद्धान्त के फलस्वरूप थीं।

सीरिया और तुर्की

पश्चिमी एशिया के वर्तमान संकट का आधार भूत कारण अरब देश, सीरिया और तुर्की पर एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक योजना संबंधी आरोप और प्रत्यारोप हैं। अरब राष्ट्र सीरिया का कहना है कि तुर्की पश्चिमी गुट का सदस्य है और शाम पर आक्रमण करने के विचार से उसकी सीमा पर भारी संख्या में सेना जमाकर रहा है। अक्टूबर सन् १९५७ के दूसरे सप्ताह में सीरिया ने राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में शिकायत भी की कि तुर्की शाम की सीमा पर सेना जमा ही नहीं कर रहा है बल्कि कई बार तुर्की सेना ने सीमा का उल्लंघन कर देश में भी प्रविष्ट किया है। सीरिया की सरकार ने तुर्की की सरकार को भी आरोप-पत्र भेजा था। इस आरोप-पत्र को तुर्की ने ठुकरा दिया जिसके परिणामस्वरूप सीरिया को 'संकट कालीन स्थिति' की घोषणा करनी पड़ी। सीरिया और तुर्की के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा होने से पूरे पश्चिमी एशिया में युद्ध की ज्वाला फैल जाने का पूरा भय होने लगा।

तुर्की 'नाटो' (Nato) का सदस्य है। अतः अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्र तुर्की की सहायता करने के लिए तैयार है! सीरिया और तुर्की के तनाव की स्थिति पर भाषण करते हुए अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री श्री डलेस ने कहा था कि तुर्की के हितों की रक्षा अमेरिका का उत्तरदायित्व है। दूसरी तरफ रूसी परराष्ट्र मन्त्री श्री ग्रोमिको ने राष्ट्रसंघ में सीरिया के संकट पर भाषण करते हुए तुर्की को आक्रामक कार्रवाइयों से विरत रहने की चेतावनी दी और साथ-ही-साथ रूसी सहायता और समर्थन के बारे में आश्वासन दिया। इस तरह दो बड़े राष्ट्रों के हस्तक्षेप, समर्थन और आश्वासन से एशिया का संकट और भी व्यापक और गंभीर हो गया है।

मिश्री संयुक्त क्मान के अधीन मिश्री सेना सीरिया पहुँच भी गयी। पश्चिमी-एशिया के वे भी राष्ट्र-सीरिया के साथ हैं जो पश्चिमी एशिया के सामरिक्-संघटनों के सदस्य होते हुए भी तुर्की के विरुद्ध हैं, जैसे सऊदी अरब और इराक। अमेरिका के आइक सिद्धान्त के प्रति आरम्भ से ही विशेष उत्साह दिखलाने वाला राष्ट्र लेबनान और 'आइक सिद्धान्त' के कार्यान्वय की पहली 'उपलब्धि' जार्डन ने भी सीरिया के पक्ष का जोरदार समर्थन किया है। ऐसी स्थिति में यदि अमेरिका सीरिया के विरुद्ध कोई कदम उठाता है तो 'आइक सिद्धान्त' का दफन होना अवश्यम्भावी है। साथ-ही-साथ पश्चिमी राष्ट्रों की स्थिति भी कमजोर हो जायगी। रूसी नेता श्री क्रुश्चेव ने पश्चिमी राष्ट्रों की इस कमजोरी को समझ लिया है। अतः उसने पश्चिमी योरप के देशों की सोशलिस्ट पार्टियों के नाम पश्चिमी एशिया में शांति-स्थापना की अपील की है जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रूस का ही पक्ष प्रबल होगा। जब से संयुक्त अरब गणतन्त्र की स्थापना हुई है, तब से सीरिया की स्थिति काफी सुदृढ़ हो चली है। सीरिया के विरुद्ध कदम उठाने का अर्थ होता है मिश्र और यमन की शत्रुता मोल लेना। इसके लिए पश्चिमी राष्ट्र कभी तैयार नहीं होंगे क्योंकि स्वेज नहर के मामले में वे काफी बदनाम हो चुके हैं।

संयुक्त अरब गणतन्त्र और अरब संघ

मिश्र, सीरिया और यमन का विलय तथा संयुक्त अरब गणतन्त्र का अभ्युदय पश्चिमी एशिया के लिए एक नया प्रयोग है। यह अरब एकता की ओर पहला कदम है। यह अरब राष्ट्रीयता की एक बहुत बड़ी विजय है। संयुक्त अरब गणतन्त्र की स्थापना से यह सिद्ध होता है कि अरब राष्ट्रवाद और एकता की भावना बहुत दिनों से सुलग रही थी, लेकिन अनुकूल वातावरण न होने के कारण विकसित नहीं हो पा रही थी। अमेरिका ने पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों पर आइसनहावर सिद्धान्त लादकर मिश्र और सीरिया को अन्य राष्ट्रों से पृथक करने की कोशिश की थी। इस

एकीकरण ने इस बात की पुष्टि कर दी कि सीरिया और मिश्र पश्चिमी राष्ट्रों की सहायता के बिना अपना एक पृथक अस्तित्व स्थापित कर सकते हैं और एकबद्ध हो सकते हैं। यमन के सम्मिलित हो जाने से संयुक्त अरब-गणतन्त्र को अधिक बल प्राप्त हो गया। पश्चिमी राष्ट्रों ने जार्डन और इराक को मिलाकर, संयुक्त अरब गणतन्त्र की तरह एक दूसरा 'अरब संघ' बनाना चाहा। उनका अभिप्राय यह था कि अरब संघ के बन जाने से दोनों में विषमता बढ़ेगी, मतभेद होगा, संघर्ष होंगे और पश्चिमी राष्ट्रों को हस्तक्षेप करने का सुअवसर प्राप्त होगा। १४ फरवरी सन् १९५८ को यह संघ बन भी गया लेकिन अधिक दिनों तक टिक न सका। जुलाई सन् १९५८ में इराक में सैनिक क्रान्ति हुई और इराक में एक नये गणतन्त्र की स्थापना हुई। नवगठित इराकी प्रजातन्त्र इस अरब-संघ से पृथक हो गया। इस प्रकार पश्चिमी राष्ट्रों का यह चाल भी असफल रहा।

इराक की सैनिक क्रान्ति

इराक की सैनिक क्रान्ति ने उभरती हुई अरब राष्ट्रीयता को आगे बढ़ाया। भारत के रक्षा मन्त्री श्री वी० के० कृष्ण मेनन के शब्दों में "इराक की घटनाएँ और कुछ नहीं केवल अरब राष्ट्रवाद के उदय की सूचना देती हैं। वर्तमान युग में अरब राष्ट्रवाद को दबाया नहीं जा सकता।" यही इराक, क्रान्ति के पहले, बगदाद-सन्धि का मुख्य स्तम्भ था और उसके प्रधान मन्त्री श्री नूरी-अल-सईद पश्चिमी राष्ट्र के कट्टर समर्थक थे। उन्हीं के प्रयास से बगदाद-सन्धि का जन्म हुआ था। उनकी हत्या कर तथा इराक में एक नये गणतन्त्र की स्थापना कर क्रान्ति ने यह सिद्ध कर दिया कि पश्चिम परस्त लोगों की अरब क्षेत्र में अब कोई स्थान नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि जनता विदेशी चंगुल में रहना नहीं चाहती। वह यह नहीं चाहती कि उस पर विदेशी सिद्धान्त लादे जायँ। यही नहीं, क्रान्ति के बाद से इराक बगदाद-सन्धि की बैठकों

में सम्मिलित ही नहीं हुआ। उसने एक तटस्थ नीति अपनाने की घोषणा की है।

लेबनान

पश्चिमी राष्ट्र हस्तक्षेप करने के लिए अवसर ढूँढ़ते रहते हैं और जब कोई अवसर मिल जाता है तो उसे हाथ से जाने नहीं देते। जुलाई' ५८ में इराक में सैनिक-क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति को रोकने के लिए अमेरिका ने लेबनान में और ब्रिटेन ने जार्डन में अपनी सेनायें भेज दीं। दूसरी ओर रूसी सीमा पर रूसी सेनाओं का अभ्यास शुरू हो गया। ऐसी स्थिति में संयुक्त अरब गणतन्त्र ने यह घोषणा कर दी कि इराक पर किये गये आक्रमण को संयुक्त अरब गणतन्त्र पर आक्रमण समझा जायगा। मामला राष्ट्र संघ तक पहुँच कर रुक गया। लेबनान के प्रधान सेनापति ने अमेरिकी सेना के शीघ्र हट जाने की चेतावनी भी दे दी। धीरे-धीरे अमेरिका और ब्रिटेन को अपनी सेनाओं को लेबनान और जार्डन से हटानी पड़ी। आज वहाँ राष्ट्रपति जनरल शेहाब (जो सन् ४१६५ से लेबनान के प्रधान मन्त्री थे और ३१ जुलाई '५८ को राष्ट्रपति निर्वाचित हुए) का प्रभुत्व है। पश्चिम परस्त डाक्टर कोमिल चामँ राष्ट्रपति के पद से हटा दिये गये हैं।

अरब-राष्ट्रीयता

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्र, सीरिया, यमन, इराक, लेबनान आदि राष्ट्रों से पश्चिमी प्रभाव बिलकुल उठ गया है। वे अब अपने अस्तित्व को पहचानने लगे हैं तथा अपनी स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा एकता को कायम रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। जो राष्ट्र अब भी पश्चिमी देशों के समर्थक हैं और जो बगदाद सन्धि में शामिल हैं या आइसनहावर सिद्धान्त स्वीकार किये हैं, बढ़ती हुई अरब राष्ट्रवाद से चिन्तित हैं। वे भलीभाँति जानने लगे हैं कि मिश्र और सीरिया जिस अरब राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्त्व करते हैं, वह अरब जनता में बड़ी तेजी से फैल

रहा है। यह राष्ट्रवाद रुक नहीं सकता। इसके प्रतिकूल जाने पर उनकी वही दशा होगी जो इराक की हालत जुलाई '५८ में हुई है। फिर भी वे लाचार हैं। उन पर पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा बराबर दबाव डाला जा रहा है। भविष्य ही बतला सकेगा कि विदेशी प्रभाव अरब राष्ट्रवाद को रोकने में कहाँ तक सफल हो सकेगा।

स्मरण रहे कि पश्चिमी एशिया की समस्याओं के समाधान के लिये अमेरिकी राष्ट्रपति श्री आइसनहावर ने १३ अगस्त '५८ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासमिति के संकट कालीन अधिवेशन में ६ सूत्रीय योजना पेश किया। इस योजना में निम्नलिखित शर्तें थीं :—

(१) लेबनान के लिये राष्ट्रसंघ की चिन्ता।

(२) जार्डन में शान्ति बनाये रखने के लिये राष्ट्र संघीय कार्रवाई।

(३) गृह युद्ध के लिये बाहरी उत्तेजना का अन्त।

(४) राष्ट्र संघीय शांति-सेना।

(५) अरब देशों के निवासियों के रहन-सहन के स्तर में सुधार करने के लिये क्षेत्रीय आर्थिक विकास-योजना।

(६) इस क्षेत्र में नई शस्त्रीकरण की होड़ को रोकने के उपाय।

राष्ट्रपति आइसनहावर ने अपने भाषण में कहा कि "पश्चिमी एशिया के देशों को शस्त्र दबाव से मुक्त रखना चाहिये और एक देश में दूसरे देशवासी के छिपकर आने का क्रम समाप्त कर देना चाहिये। जब कभी ऐसे हस्तक्षेप की नौबत आये तो इन देशों को अपनी स्वाधीनता के रक्षार्थ राष्ट्र संघ से तत्काल सहायता मिलनी चाहिये।"

अरब राष्ट्रों ने ६ सूत्रीय आइक योजना को नापसन्द किया है। अरब आलोचकों ने अमेरिका पर लेबनान और जार्डन में अप्रत्यक्ष आक्रमण का आरोप लगाया है। क्षेत्रीय आर्थिक विकास योजना को छोड़कर अन्य सभी प्रस्ताव ठुकरा दिये गये हैं।

पश्चिमी एशिया पर भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने १४ अगस्त '५८ को लोक-सभा में जो भाषण दिया, उसका विशेष महत्व है। उनके भाषण में पश्चिमी एशिया की समस्याओं का उचित समाधान मिलता है। श्री नेहरू ने अपने भाषण में कहा था—"पश्चिमी एशिया के किसी भी देश पर 'बलात् तटस्थता' लादे जाने के प्रस्ताव के मैं विरुद्ध हूँ। भारत का यह दृढ़ मत है कि सभी विदेशी सेनाएँ उस क्षेत्र से हटा ली जानी चाहिये। उस क्षेत्र में भारत कोई पुलिस-दल भेजे जाने के विरुद्ध है। इन बातों से उस क्षेत्र में विरोध की भावना हटेगी। × × × वास्तविक निबटारा इस क्षेत्र के देशों के ही सद्भाव से और उनके भय हटा देने से ही हो सकता है।" आपने आगे कहा कि "अप्रत्यक्ष बढ़ाव वास्तव में आतंक युद्ध की पद्धति का अतर्क्य सिद्ध अंग है।"

निस्संदेह जब तक पश्चिमी एशियाई राष्ट्रों से सद्भावना से काम नहीं लिया जायगा और उनमें भय बना रहेगा तब तक उस क्षेत्र की समस्यायें हल नहीं हो पायेंगी। बड़े राष्ट्रों को पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने के लिये आतंक-युद्ध अथवा शीत युद्ध त्याग कर पंचशील से काम लेना पड़ेगा।

आइक-सिद्धान्त—अमेरिका के राष्ट्रपति श्री आइसनहावर की पश्चिम एशिया सम्बन्धी नीति को "आइक सिद्धान्त (Ike Doctrine) की संज्ञा दी जाती है। अमेरिकी राष्ट्रपति ने अमेरिका की इस नीति को विश्व में शांति और स्वतन्त्रता की रक्षा का अमेरिकी जनता का संकल्प कहा है। इसी नीति के अनुसार अमेरिका पश्चिमी एशियाई क्षेत्र में दो करोड़ डालर की सामरिक और आर्थिक सहायता भी वितरित करेगा। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में अमेरिका के 'मुनरो-सिद्धान्त' से भी 'आइक सिद्धान्त' को अधिक महत्त्व दिया गया है। 'मुनरो सिद्धान्त' उत्तरी अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका के क्षेत्र की घोषणा का सिद्धान्त था और उसका आधार सुरक्षात्मक था। 'आइक-सिद्धान्त' पश्चिमी एशिया

को भी अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत मानने का सिद्धान्त है और इसका आधार अमेरिका की सुरक्षा न होकर साम्यवाद के प्रभाव की वृद्धि को रोकना है ।

पश्चिमी एशिया में साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए अमेरिकी उत्कंठा कोई नई बात नहीं है। द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही सोवियट रूस के नेतृत्त्व में कम्यूनिस्टों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने और सोवियत रूस तथा कम्यूनिस्ट देशों को घेरने के लिए व्यूह रचना का जो प्रयत्न किया गया है उसका प्रणेता अमेरिका ही है। पश्चिमी योरप में नाटो-संघटन और दक्षिण-पूर्वी एशिया में सीटो संघटन बनाने के साथ ही पश्चिमी एशिया में 'मीडो' (M. E. A. D. O.) संघटन बनाकर सोवियत रूस को शिकंजे में अच्छी तरह जकड़ देने का पश्चिमी राष्ट्रों का इरादा था। पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों में परस्पर विरोधी स्वार्थों की टकराहट और राष्ट्रीयता की नयी शक्तियों के उदय के कारण पश्चिमी राष्ट्र 'मीडो' (मध्यपूर्व सुरक्षा) बनाने में सफल नहीं हो सके। विकल्प के रूप में पश्चिमी एशिया के कुछ राष्ट्रों को मिलाकर 'बगदाद समझौता' (Baghdad Pact) किया गया है। सन् १९५६ से सन् १९५८ की घटनाओं से प्रकट हो गया कि 'बगदाद समझौता' घेरेबन्दी द्वारा सोवियत रूस को रोकने में असफल रहा और सोवियत रूस घेरे को फाँद कर अरब देशों के बीच पहुँच गया। अरब देशों, विशेष रूप से मिश्र और सीरिया में कम्यूनिस्टों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक सकने में पश्चिमी राष्ट्र ब्रिटेन और फ्रान्स को असमर्थ पाकर अमेरिका स्वयं मैदान में कूद आया। स्वेज़ युद्ध के समय मिश्र के ऐंग्लो-फ्रैंच आक्रमणकारियों को पीछे हटाने के लिए रूस द्वारा स्वयंसेवक सैन्य-दस्ते भेजने का प्रस्ताव किये जाते ही अमेरिका ने पश्चिमी एशिया क्षेत्र में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप की घोषणा की। इसी घोषणा को बाद में पश्चिमी एशिया सम्बन्धी व्यापक अमेरिकी नीति का रूप दिया गया।

अमेरिकी राष्ट्रपति ने पश्चिमी एशियाई क्षेत्र में कम्यूनिस्टों के आक्रमण की स्थिति में आवश्यकता पड़ने पर किसी क्षेत्रीय देश द्वारा सहायता माँगने पर युद्ध में कूद पड़ने की जो बात कही, उसे अमेरिकी राष्ट्रपति कहाँ तक पूरा कर सकेंगे, इसमें संदेह है। युद्ध की घोषणा का अधिकार अमेरिकी कांग्रेस को है। इस तरह पश्चिमी एशिया में हस्तक्षेप के अधिकार की वैधता में संदेह रह जाता है। आइक नीति को मानने पर भी पश्चिमी एशियाई क्षेत्र में अमेरिका की सशस्त्र हस्तक्षेप की कार्रवाई का अमेरिकी कांग्रेस समर्थन करेगी, इसमें भी संदेह है। स्वेज़ संकट जब सबसे गंभीर था और मिश्र युद्ध में रूसी स्वयं सेवक सैन्य दलों के पहुँचने की आशंका थी तब आइक योजना प्रस्तुत की गयी थी। अब पश्चिमी एशिया के किसी क्षेत्र में सोवियत रूस द्वारा किसी तरह की कार्रवाई करने का भय नहीं है और इसराइल द्वारा गाज़ा पट्टी से अपनी सेना हटा लेने के बाद स्वेज़ क्षेत्र में भी तनातनी कम हो गयी है। ऐसी स्थिति में सशस्त्र हस्तक्षेप के नारे के साथ कम्यूनिस्ट-प्रभाव वृद्धि रोकने के नाम पर अमेरिका द्वारा पश्चिमी एशिया में घुसने के प्रयत्न का पश्चिमी एशियाई क्षेत्र में भी स्वागत नहीं होगा। चीन के प्रधान मन्त्री श्री चाओ-एन-लाई ने नयी अमेरिकी नीति को अमेरिका की नयी साम्राज्यवादी नीति कहा है। उनका कहना है कि पश्चिमी एशिया से ब्रिटेन और फ्रान्स का प्रभाव समाप्त कर अमेरिका अपना प्रभाव कायम करना चाहता है।

अध्याय ५

नये स्वतन्त्र राष्ट्र

(New Independent States)

मलाया (Malaya)

लगभग ७५ वर्ष की ब्रिटिश गुलामी के बाद ३१ अगस्त सन् १९५७ को विश्व के सम्पूर्ण प्रभुत्त्वशक्ति पूर्ण देशों के मध्य एक और नये देश ने जन्म पाया। इस देश का नाम है—मलाया। एक राष्ट्र कुल (कामन-वेल्थ) का एक सदस्य राष्ट्र है। आज से दस वर्ष पहले ब्रिटिश साम्राज्य में जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई थी, उपनिवेशवाद का अन्त और सहमति तथा समझौते द्वारा स्वाधीन देशों का जन्म, इस प्रतिक्रिया की लड़ी में मलाया एक और नयी कड़ी है। ५ अगस्त को क्वालालम्पुर में मलाया स्वाधीनता की घोषणापत्र पर ब्रिटिश सामाज्ञी के प्रतिनिधि सर डोनाल्ड मैक गिलिवरे और मलाया के शासकों का हस्ताक्षर हुआ। 'मे डे का पैक्ट' पर हस्ताक्षर होना मलय राष्ट्रवाद की प्रगति में एक महत्त्वपूर्णाण घटना है।

मलाया एक नये चौराहे पर खड़ा है। इसका कुल क्षेत्रफल ५०६९० वर्ग मील है। इसकी कुल आबादी ६१ लाख है जिसमें से करीब ३० लाख पूर्व निवासी मलय जाति के लोग हैं, २३ लाख चीनियों और ८ लाख भारतीयों की संख्या है।

मलाया में अंग्रेजों की पहली बस्ती पेनांग थी। यहाँ अंग्रेज सन् १७८६ में आकर बसे थे। मलाया पर ब्रिटेन का अधिकार सन् १७९२

में स्थापित हुआ। बीच में सन् १८१८ से सन् १८२४ तक यहाँ इंग्लैण्ड का अधिकार था। सन् १८१६ में सर स्टैम्फोर्ड रेफिल्स ने सिंगापुर की की स्थापना की। सन् १८२४ तक सम्पूर्ण द्वीप पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। लेबुआन ब्रिटिश साम्राज्य में सन् १८४६ में शामिल हुआ। सन् १८७४ और सन् १८६५ के बीच पेराक, सेलगोर, नेग्री सेम्बिलान और पाहांग राज्य धीरे-धीरे ब्रिटिश संरक्षण में आया। केडाह, पेरलिस, केलानटीन और त्रयंगुन सन् १६०६ में श्याम के हाथ से ब्रिटेन के हाथों में चले गये।

व्यापार और शासन की सुविधा के लिए अंग्रेजों ने मलाया में सड़क, रेल, और जल-मार्गों का पर्याप्त विकास किया, जिसके फलस्वरूप विभिन्न जाति और धर्मावलम्बी एक दूसरे के सम्पर्क में आये और उनमें एक राष्ट्रीयता की भावना जगी। अंग्रेजों को इस स्थिति का पता चल गया। द्वितीय महायुद्ध का अभी अन्त भी नहीं हो सका था कि सन् १६४५ में मलाया के सभी प्रदेशों को मिलाकर एक ही सरकार के अन्तर्गत एक संघ बनाने और प्रादेशिक शासकों में सुधार करने की घोषणा की थी, किन्तु मलाया की जनता इस चक्कर में आने वाली नहीं थी। उसमें राजनीतिक चेतना अब जाग्रत हो चुकी थी। उन लोगों ने विधान का विरोध करने के लिए संयुक्त मलय राष्ट्रीय संघटन (United Malayan National Organisation) को जन्म दिया।

पहला प्रतिनिधि-विधान १ फरवरी सन् १६४८ में तैयार हुआ। इसके अनुसार ब्रिटिश हाई कमिश्नर के अधीन एक सुदृढ़ संघीय सरकार के साथ ही विधान सभा और कार्यपालिका में चुनाव द्वारा जनता के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी। मलाया की कम्यूनिस्ट पार्टी ने इसका विरोध किया। वर्षों तक अनवरत प्रयत्न करने पर भी मलाया में ब्रिटिश-शासन कम्यूनिस्टों का सफाया नहीं कर सकी।

अंग्रजों ने सात वर्षों तक नये संविधान को कार्यान्वित होने से स्थगित रखा। असन्तोष की लहर बढ़ती ही गयी। सन् १९५५ में पहला आम-चुनाव हुआ। असोसिएशन तथा मलय भारतीय कांग्रेस के संयुक्त मोर्चा-दल को ५२ सीटों में से ५१ सीटें प्राप्ति हुई। संयुक्त मोर्चे के नेता श्री टंकू रहमान ने मलाया संघ के प्रथम मुख्य मन्त्री के रूप में कार्यभार ग्रहण किया।

जनवरी सन् १९५६ में मुख्य मन्त्री टंकू रहमान के नेतृत्व में पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रश्न पर वार्ता के लिए एक प्रतिनिधि मण्डल लन्दन गया, जो प्रारम्भिक वार्ता के लिए लन्दन गये थे। मई में ब्रिटिश सरकार के साथ हुए समझौते के फलस्वरूप ३१ अगस्त सन् १९५७ का मलाया में स्वतन्त्रता का सुप्रभात हुआ।

मुख्य मन्त्री रहमान और अंग्रजों के बीच हुए समझौते के अनुसार ब्रिटेन के आर्थिक हितों तथा सैनिक स्थिति पर आँच नहीं आ सकती है। ब्रिटेन को पेनांग तथा मलक्का में दो नये अड्डे स्थापित करने का अधिकार मिला है। उसे यह भी स्वतन्त्रता दी गयी है कि अपने अन्तर-राष्ट्रीय दायित्त्व को पूरा करने के लिए मलाया की भूमि पर जितनी भी सेना चाहे रख सकती है, चाहे वह ब्रिटेन की हो या अन्य किसी राष्ट्र-मण्डलीय सदस्य की हो।

रहमान सरकार ब्रिटेन तथा पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति चाहे कितना भी उदार क्यों न हो, वहाँ की जाग्रत जनता वर्तमान स्थिति को अधिक दिनों तक चलने नहीं देगी। कम्यूनिस्टों के अतिरिक्त संयुक्त मलय राष्ट्रीय-संगठन के नेताओं ने स्पष्ट कहा है कि वे सीटो जैसे सैनिक गुटों का बहिष्कार करेंगे, अफ्रीकी-एशियाई गुट में सम्मिलित होंगे, ब्रिटिश सैनिक अड्डों के कायम होने का विरोध करेंगे तथा सदस्यता की नीति को अपनायेंगे। वे न तो ब्रिटिश सैनिकों को आश्रय ही देंगे और न ब्रिटेन के अन्तरराष्ट्रीय दायित्त्व के लिए मलाया को एक साधन बनने देंगे।

मलाया के नये संविधान के अनुसार मलाया राष्ट्र का सर्वोच्च शासक एक संवैधानिक राजा होगा। राजा का निर्वाचन प्रत्येक पाँच वर्ष बाद होगा और इसके चुनने वाले मलाया के नौ मूल सुलतान होंगे। मलाया में दो सदन होंगे—सीनेट और प्रतिनिधि-सभा। सीनेट में कुल ४० सदस्य होंगे। पेनांग और मलक्का सहित नौ राज्यों से दो-दो प्रतिनिधि होंगे तथा १६ सदस्य सर्वोच्च शासक द्वारा मनोनीत होंगे। प्रतिनिधि सभा में १०० सदस्य होंगे जिनका चुनाव जनता स्वयं करेगी।

पेनांग और मलक्का के सर्वोच्च शासक गवर्नर होंगे और शेष राज्यों में परम्परागत रीति से अपने-अपने राज्यों में सुलतान शासन करेंगे। लेकिन ये सुलतान विधान-सभा की सिफारिशों और परामर्श से अपना कार्य करेंगे।

सरकारी नौकरियों में मलयेशियनों को प्राथमिकता दी जायगी किन्तु पदोन्नति और वेतन में कोई भेद नहीं किया जायगा। मलाया संघ का धर्म इस्लाम होगा। यद्यपि पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता स्वीकार की गई है मलय-लोगों के लिये भूमि सुरक्षित रहेगी।

मलाया संघ की नागरिकता एक विवादपूर्ण विषय रहा है। मलयेशियन दोहरी नागरिकता के विरुद्ध हैं। अगर यह मान लिया जाय कि मलयेशियन ही मलाया संघ के नागरिक हैं तो पेनांग और मलक्का के हजारों निवासी नागरिकता के अधिकार से वंचित हो जायेंगे। नये संविधान के अनुसार अब तक जो लोग संघ के नागरिक हैं वे भविष्य में भी नागरिक रहेंगे। ब्रिटेन और उपनिवेशों के नागरिक संघ के नागरिक माने जायेंगे यदि वे 'मे डे का दिवस' से एक वर्ष के भीतर अपना नाम नागरिकों में लिखवा लेंगे। परन्तु इनको ब्रिटेन और उपनिवेशों की नागरिकता का लाभ न उठाना होगा। 'मे डे के दिवस' के बाद संघ में उत्पन्न प्रत्येक व्यक्ति मलाया संघ को नागरिक समझा जायगा। गैर

मलयेशियन भी मलाया संघ के नागरिक हो सकते हैं। यह उनके अधिवास के काल और मलय भाषा के ज्ञान पर निर्भर होगा।

मलाया की स्वतन्त्रता किसी क्रान्ति द्वारा हस्तगत नहीं हुई है। ब्रिटेन के घोषणापत्र तथा मलाया के संविधान में कुछ ऐसी व्यवस्थायें भी हैं जिनसे मलाया में ब्रिटेन के आर्थिक स्वार्थ काफी हद तक सुरक्षित बने रहेंगे। इससे यह समझना अनुचित होगा कि मलाया स्वतन्त्रता अपूर्ण है। प्रत्येक राष्ट्र को उसकी स्वतन्त्रता का स्वागत करना होगा। यदि भारत, चीन, अमेरिका, और रूस उसे एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में स्वीकार कर लेते हैं तो ब्रिटेन भविष्य में मलाया को फिर हड़प नहीं सकता।

त्रिंकोमली (Trinkomally)

लंका के पूर्वी तट पर स्थित पर्वतों से घिरे त्रिंकोमली बन्दरगाह १५ अक्टूबर सन् १९५७ को स्वतन्त्र हुआ। लंका का यह भूभाग लगभग साढ़े चार वर्ष तक पराधीनता की बेड़ी में जकड़ा हुआ था।

पूर्वी क्षेत्र में स्थित बृटिश नौ सैनिक अड्डे का प्रतीक बनकर पिछले १६० वर्षों से जो श्वेत ध्वजा फहरा रही थी, वह १५ अक्टूबर '५७ को उतर गया। इस कार्य को लंका में स्थानापन्न उच्चायुक्त श्री पी० यल० क्रास्थवेट ने सम्पन्न किया।

तत्पश्चात् लंका के वर्तमान प्रधान मन्त्री श्री भण्डार नायक ने राष्ट्रीय गान के बीच लंका की ध्वजा को फहराया।

घाना (Ghana)

पश्चिमी अफ्रीकी तट पर स्थित ब्रिटिश उपनिवेश घाना को ६ मार्च सन् १९५७ को एक स्वतन्त्र राष्ट्र का पद प्राप्त हुआ। इसका नाम वस्तुतः गोल्ड कोस्ट है जो काफी समय से ब्रिटेन का उपनिवेश बना चला

आ रहा था। गोल्ड कोस्ट की जनता ने प्राचीन अफ्रीका साम्राज्य 'घाना' की स्मृति में अफ्रीका के पहले स्वतन्त्र राज्य का नाम भी घाना रखा।

घाना की स्वतन्त्रता पर प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कहा था—"यह घटना अफ्रीका, राष्ट्रमण्डल और दुनिया के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। भारत सरकार को आशा है कि हमारे दोनों देशों की मैत्री-सम्बन्ध और सुदृढ़ होंगे तथा शान्ति और प्रगति के कार्य में घाना सरकार से बराबर सहयोग मिलता रहेगा।"

घाना का अपना एक पुराना इतिहास है। सोने की खानों की अधिकता के कारण यह 'गोल्ड कोस्ट' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। सोने की खानों ने विदेशी व्यापारियों को आकर्षित किया। इन व्यापारियों ने धीरे-धीरे यहाँ के लोगों को गुलाम बनाकर बेचना आरम्भ किया। यह व्यापार कुछ समय तक चलता रहा। ६ मार्च १८४४ को इस प्रदेश पर ब्रिटेन का अधिकार हो गया जो ५ मार्च १९५७ तक बना रहा। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस भूभाग में राष्ट्रीयता की किरण फूटी और राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुये। इस आन्दोलन के नेता थे डाक्टर एनक्रूमा, जो आज स्वतन्त्र घाना के प्रधान मन्त्री हैं।

घाना में संसदीय शासन-व्यवस्था होगी लेकिन राज्य का प्रधान एक गवर्नर जनरल होगा।

स्वतन्त्र होने पर भी घाना राष्ट्र ने राष्ट्र मण्डल की सदस्यता को स्वीकार कर लिया है। सन् १९५७ में जो राष्ट्र मण्डल का अधिवेशन हुआ उसमें घाना के प्रधान मन्त्री ने स्वयं भाग लिया था।

घाना की राष्ट्रमण्डलीय सदस्यता से नयी समस्यायें उठने की संभावना है। राष्ट्रमण्डल के अधिकांश सदस्य गोरे राष्ट्र हैं जो अन्य सदस्य राष्ट्रों की अपेक्षा अपने को अधिक श्रेष्ठ समझते हैं। तीन एशियाई राष्ट्रों—भारत, पाकिस्तान और लंका के राष्ट्रमण्डल के सदस्य बनने से स्थिति में काफी परिवर्तन हुआ जो गोरे राष्ट्रों को नापसंद है। तीनों

एशियाई राष्ट्रों की गिनती तो अधगोरों में भी की जा सकती है। लेकिन घाना तो बिलकुल काला राष्ट्र है, उसके प्रवेश से गोरे राष्ट्रों पर क्या प्रतिक्रिया होगी, यह सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। 'जो हो, एक भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेश का स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय, गोराशाही गुलाम से प्रपीड़ित तिमिराच्छन्न अफ्रीका में नया प्रकाश फैलायेगा।'

भारत ने घाना को एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में मान लिया है तथा ओ० वी० के० कपूर को अपना उच्चायुक्त नियुक्त किया है।

सूडान (Sudan)

अफ्रीका स्थित् ब्रिटेन तथा मिश्र द्वारा अधिकृत सूडान १ जनवरी सन् १९५६ को एक स्वतन्त्र राष्ट्र का पद प्राप्त किया। इस पर ५६ वर्ष तक ब्रिटेन और मिश्र का संयुक्त अधिकार रहा। १९ दिसम्बर सन् १९५५ को सूडान की संसद ने स्वतन्त्रता के पक्ष में अपना मत दिया था। इस निर्णय को ब्रिटेन और फ्रान्स ने शीघ्र मान लिया। एक दूसरा प्रस्ताव जिसमें मिश्र के साथ सूडान के मिलाये जाने की व्यवस्था थी, संसद द्वारा अस्वीकृत हो गयी।

सूडान की स्वतन्त्रता के घोषणापत्र को मिश्र के ब्रिगेडियर जनरल अब्दुल फतह हसन और ब्रिटेन के बाडस पारकर ने स्वयं पेश किया। १ जनवरी सन् १९५६ को सूडान के संसद का ऐतिहासिक अधिवेशन हुआ जिसमें मिश्र और ब्रिटेन के संयुक्त घोषणा-पत्र को पढ़ा गया। मिश्र और ब्रिटेन के झण्डे उतार दिये गये और उनके स्थान पर सूडान की एकता का प्रतीक नीला, हरा और पीला झण्डा फहराया गया।

सूडान के प्रशासन के लिए पाँच सदस्यों का एक कौंसिल संघटित किया गया। गवर्नर-जनरल का पद समाप्त कर दिया गया। अन्तिम ब्रिटिश गवर्नर-जनरल श्री नाक्स हेल्म ने दिसम्बर सन् १९५५ में अवकाश ग्रहण कर लिया।

फ्रांसीसी गायना (French Guinna)

२ अक्टूबर सन् १९५८ को फ्रेंच गायना फ्रांसीसी शासन से मुक्त हो गया। इस प्रकार ६८ वर्षों का फ्रांसीसी शासन समाप्त हो गयी।

गिनी की स्वतन्त्रता के संबंध में स्मरण रहे कि २९ सितम्बर '५८ को फ्रान्स के प्रधान मंत्री जनरल देगाल के नये संविधान के अन्तर्गत जो मतगणना हुई थी, उसमें फ्रेंच गायना ने बहुमत से पृथक अस्तित्व की इच्छा प्रकट की थी।

नये स्वतन्त्र गायना के प्रधान मन्त्री श्री सेकू तूरे बनाये गये हैं जो फ्रांसीसी शासन काल में भी प्रधान मन्त्री रह चुके हैं। प्रतिनिधि-सभा को राष्ट्रीय संविधान सभा का रूप दे दिया गया। देश के लिए एक नये मन्त्रिमण्डल का गठन किया गया जिसमें ११ मन्त्री और ५ राज्य-मन्त्री हैं।

क्यूबा (Cuba)

सन् १९५९ के स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्रों में प्रथम क्यूबा आता है। क्यूबा में लगभग दो वर्षों से संघर्ष चला आ रहा था। क्यूबा के विद्रोही नेता फिडेल कैष्ट्रो और उनके साथी राष्ट्रपति फुल्गेंसियो बतिस्ता की सरकार के विरुद्ध छापामार युद्ध चला रहे थे।

दिसम्बर सन् १९५८ में इनका संघर्ष अति तीव्र हो गया। विद्रोहियों ने नवीन आक्रमण आरम्भ किये। क्यूबा के लास-ब्रेगास प्रांत की राजधानी साण्टा क्लारा में घर-घर भीषण युद्ध होने लगे। सैनिक, नागरिक एवं विद्रोही भारी सख्या में हताहत हुए। फुल्गेंसियों सरकार ने विमान, बमों और मशीनगनों के द्वारा विद्रोहियों का संहार आरम्भ किया। ३० दिसम्बर '५८ को विद्रोहियों ने शस्त्रागार को उड़ा दिया इनके गढ़ करेबियन टापू गणतन्त्र के पूर्वी सिरे पर स्थित ओरिएण्ट-प्रान्त था।

विद्रोहियों ने धीरे-धीरे इस्सो और तैलशोधक कारखानों, बैंकों और सदर-सैनिक कार्यालयों पर अधिकार कर लिया। विद्रोहियों को छात्रों के संगठन 'रिवोल्यूशनरी डाईरेक्टरेट' का भी समर्थन प्राप्त हो गया।

२ जनवरी '५६ को विद्रोही नेता श्री फिडेल कैस्ट्रो और उनके समर्थकों ने श्री मैनुअल उरूदिया को देश का अस्थायी राष्ट्रपति और सेष्टियागो को अस्थायी राजधानी घोषित किया।

क्यूबा की नयी सरकार को विश्व राष्ट्रों की मान्यता धीरे-धीरे मिल रही है। रूस, भारत और अमेरिका ने उरूटिया की सरकार को मान्यता प्रदान कर दी है।

बेल्जियन कांगों (Belgian Congo)

१४ जनवरी '५६ स्वतन्त्रता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। १४ जनवरी को बेल्जियम सरकार ने बेल्जियम कांगो को स्वतन्त्रता प्रदान करने की घोषणा की है। घोषणानुसार कांगों की जनता चुनाव के आधार पर अपनी अस्थाई संसद बनाकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में निश्चय करेगी। सन् १६५६ के अन्त तक कौंसिलरों का चुनाव होगा और सन् १६६० तक संसद के निर्माण की योजना तैयार की जायगी।

बेल्जियम के शाह बाउद्दीन ने अपनी घोषणा में कहा कि "सरकार बेल्जियन कांगो निवासियों को आज़ादी समृद्धि और शांति की ओर जाना चाहती है।"

अध्याय ६

नये संयुक्त राज्यों का उदय

(Rise of New United States)

(१) संयुक्त अरब गणतन्त्र

मिश्र और सीरिया के राज्यों में किसी न किसी रूप में एकता की चर्चा तो बहुत दिनों से चल रहीं थी। अगस्त सन् १९५७ से मिश्र और सीरिया का संघ राज्य बनाने के बारे में विचार-विमर्श आरम्भ हुआ। लेकिन जनवरी '५८ में संघ राज्य बनाने की योजना को एकाएक समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर दोनों राष्ट्रों को मिलाकर एक राष्ट्र बनाने की योजना को प्रस्तुत किया गया। एकबद्ध राज्य बनाने के निर्णय की घोषणा से सभी राष्ट्र स्तब्ध रह गये।

मिश्र और सीरिया के एकीकरण की घोषणा के पीछे बगदाद राष्ट्रों की बैठक में किये गये निर्णयों की प्रतिक्रिया काम कर रही थी। इराक बगदाद समझौते का मुख्य स्तम्भ था। जार्डन अरब क्षेत्र में होते हुए भी अरब विचारधारा के प्रतिकूल था। इन दोनों राष्ट्रों में बहुत पहले से ही एक संघ बनाने की योजना चल रही थी। मिश्र और सीरिया का एकीकरण इराक और जार्डन के सम्भावित संघ का एक मात्र उत्तर था। पश्चिमी एशिया विदेशी राष्ट्रों का सदा से अखाड़ा रहा है। विदेशी हस्तक्षेपों से बचने तथा अरब राष्ट्रीयता को विकसित करने के हेतु मिश्र और सीरिया को एक सुदृढ़ राष्ट्र बनाने की आवश्यकता जान पड़ी। यह एकीकरण उस आवश्यकता का प्रतिरूप है।

१ फरवरी सन् १६५८ को सीरिया और मिश्र के एकीकरण की घोषणा की गयी। इस घोषणा के अनुसार मिश्र और सीरिया को मिलाकर 'संयुक्त-अरब गणतन्त्र' की स्थापना होगी जो १७ लिखित सिद्धान्तों पर आधारित होगा। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) संयुक्त अरब राज्य एक स्वतन्त्र प्रजातांत्रिक और सार्वभौम गणतन्त्र होगा। इसकी जनता अरब राष्ट्र का अंग होगी।

(२) कानून के अन्तर्गत स्वतन्त्रता।

(३) कानून की व्यवस्था के अनुसार आम चुनाव का अधिकार नागरिकों को प्राप्त होगा।

(४) संवैधानिक अधिकार राष्ट्रीय परिषद् में निहित होंगे। इसके सदस्यों का चुनाव राष्ट्रपति करेंगे। इनमें से आधे सदस्य सीरिया की धारा-सभा के होंगे और आधे मिश्री राष्ट्र-परिषद् के।

(५) शासनाधिकार गणतन्त्र के राष्ट्रपति में निहित होंगे।

(६) निजी सम्पत्ति सुरक्षित रहेगी।

(७) कानून के अनुसार ही कर लगेंगे, उनमें संशोधन होंगे या वे रद्द होंगे।

(८) न्यायाधीश स्वतन्त्र रहेंगे। केवल कानून ही उनके ऊपर रहेगा।

(९) सीरिया और मिश्र की संवैधानिक व्यवस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में लागू रहेंगी किन्तु ये कानून रद्द हो सकेंगे और इनमें संशोधन भी सम्भव होगा।

(१०) सीरिया और मिश्र संयुक्त अरब गणतन्त्र के दो क्षेत्र होंगे।

(११) प्रत्येक क्षेत्र की अपनी शासन परिषद् होगी। इनके अध्यक्षों की नियुक्ति गणतन्त्र के राष्ट्रपति करेंगे।

(१२) शासन-परिषद् का कार्य क्षेत्र गणतन्त्र के राष्ट्रपति की घोषणानुसार निश्चित होगा।

(१३) अन्तरराष्ट्रीय समझौतों की दोनों में मान्यता रहेगी।

(१४) शासन तथा अन्य सरकारी विभागों की व्यवस्था दोनों क्षेत्रों में पूर्ववत् रहेगी। आवश्यकता पड़ने पर इसमें संशोधन हो सकेगा।

(१५) राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति तथा राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली और समृद्धिशाली बनाने के लिए नागरिकगण राष्ट्रीय संघ (यूनियन) की स्थापना करेंगे।

(१६) संयुक्त अरब राज्य के स्थायी संविधान के लिए व्यवस्था की जायगी।

(१७) आगामी २१ फरवरी '५८ को एकता और संयुक्त अरब गणतन्त्र के राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए लोकमत लिया जायगा।

५ फरवरी '५८ को मिश्र सीरिया की एकता का स्वागत करते हुए राष्ट्रीय सभा में कर्नल नासिर ने कहा—"संयुक्त अरब गणतन्त्र का मार्ग बाधाओं से खाली नहीं है। समस्याएँ उठेंगी, हमारी परीक्षाएँ होंगी और हमसे गलतियाँ भी हो सकती है। हमें अपने हाथ बाँधकर बैठना नहीं चाहिए।" इसी दिन शाम के राष्ट्रपति श्री क्वातली ने संसद में एकीकरण के प्रस्ताव का स्वागत करते हुए कहा—"संयुक्त अरब राज्य में अपनी नयी पीढ़ी को सौंप रहा हूँ और आवाहन करता हूँ कि वे अपने हृदय में विश्वास के साथ मशाल लेकर आगे बढ़ें।"

२२ फरवरी '५८ को मिश्र और सीरिया के एकीकरण का कार्य विधिवत् सम्पन्न हो गया। इसी दिन जनमतगणना का फल भी प्रकाशित हुआ। मिश्र और सीरिया के ९९.९९ प्रतिशत मत राष्ट्रपति नासिर के पक्ष में मिले। इस प्रकार मिश्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर संयुक्त अरब गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।

यमन राज्य भी इस संयुक्त अरब गणतन्त्र में सम्मिलित हो गया। ऐसे तो २ मार्च '५८ को ही यमन के राजकुमार अलबदर और राष्ट्रपति नासिर ने घोषणा की थी कि यमन संयुक्त अरब प्रजातन्त्र में शामिल

हो गया है लेकिन समझौता-पत्र पर ८ मार्च '५८ को हस्ताक्षर हुआ। इस समझौते से लाल सागर की यमन राज्य संयुक्त अरब प्रजातन्त्र से संघबद्ध हो गया।

यमन राज्य के विलय से संयुक्त अरब गणतन्त्र की कुल आबादी ३ करोड़ १८ लाख और कुल क्षेत्रफल ६ लाख ३३ हजार वर्गमील हो गया। कुल आबादी में मिश्र की आबादी २ करोड़ ३४ लाख, यमन की ४५ लाख और शाम की आबादी ३९ लाख है।

(२) अरब संघ राज्य

मिश्र और सीरिया के एकीकरण के दो सप्ताह पश्चात् इराक और जार्डन ने मिलकर एक नये संघ की स्थापना की, जो 'अरब संघ राज्य' कहलाया। इस प्रकार इराक और जार्डन संयुक्त अरब संघ से पृथक हो गये। अरब संघ राज्य केवल दो राष्ट्रों—इराक और जार्डन का संघ था।

इराक और जार्डन के विलय के पश्चात् एक संघीय सरकार की स्थापना हुई। इराक के शाह फैज़ल इस नये राज्य के प्रधान और जार्डन के शाह हुसैन उपप्रधान बने। जुलाई '५८ की सैनिक क्रान्ति में इराक के शाह फैज़ल मार डाले गये। तत्पश्चात् जार्डन के शाह हुसैन इस संघ के प्रधान बन गये।

जुलाई-क्रान्ति के पश्चात् इराक में एक नये गणतन्त्र राज्य की स्थापना हुई। जार्डन ने केवल इराक गणतन्त्र को मान्यता ही प्रदान न की बल्कि २ अगस्त '५८ से अरब संघ राज्य को ही समाप्त कर दिया।

(३) घाना और गिनी का संघ

२३ नवम्बर सन् १९५८ को घाना के प्रधान मन्त्री डाक्टर एनक्रूमा और गिनी के प्रधान मन्त्री श्री सेकू तौरेदे ने (जो उस समय घाना में

राजकीय दौरे पर थे) एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित कर पश्चिमी अफ्रीका-संघ के रूप में घाना और गिनी का एकीकरण करने का निश्चय किया। यह निश्चय गवर्नर जनरल भवन में हुआ।

एकीकरण की अवस्था में घाना और गिनी ने एक संयुक्त ध्वज रखने का निश्चय किया है। दोनों देशों ने आपस में घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करने और सुरक्षा, परराष्ट्र तथा आर्थिक नीति भी एक ही निर्धारित करने का संकल्प किया है। तत्पश्चात् एक संयुक्त संविधान का निर्माण होगा।

घाना और गिनी के एकीकरण का उद्देश्य अफ्रीकी राष्ट्रों में नव-जागरण तथा एकता की भावना को जन्म देना है। इसका उद्देश्य घाना और राष्ट्रमण्डल के वर्तमान तथा भावी सम्बन्धों में किसी प्रकार की बाधा डालना नहीं है और न गिनी और फ्रान्सीसी समुदाय में कोई गड़बड़ी ही पैदा करना है।

एकीकरण की घोषणा से ब्रिटिश सरकार स्तब्ध रह गयी। वह राष्ट्र-मण्डलीय देशों से मन्त्रणा कर रही है। कुछ देशों ने तो इस एकीकरण का स्पष्ट विरोध किया है। कुछ देशों का कहना है कि घाना और गिनी को ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए था।

२२ दिसम्बर '५८ की बम्बई में अपने राजकीय दौरे के आरम्भ में घाना के प्रधान मन्त्री डाक्टर एनक्रूमा ने पत्रकारों के बीच वार्ता के दौरान में कहा था कि "घाना और गिनी का संघ अच्छे ढंग से कायम होने जा रहा है। आरम्भिक संविधान की रचना का ही कार्य है कि वह ऐसा बन सके जिसमें आगे अन्य भी देश यदि आयें तो उन्हें शामिल किया जा सके। साइबेरिया भी यदि इस संघ में शामिल हो जाय तो यह उसके लिए भी अच्छा ही होगा।"

अध्याय ७

सैनिक क्रान्तियाँ

(Military Revolutions)

सीरिया में सैनिक-क्रान्ति

सीरिया में सितम्बर सन् १६५७ के तृतीय सप्ताह में कायापलट हुआ। पिछले १० वर्षों से पदस्थ मार्शल विपुल संग्राम की सरकार अपदस्थ हो गयी और पूरे देश पर सैनिक-नियन्त्रण स्थापित हो गया।

सीरिया में घटित सैनिक राज्यक्रान्ति के नेता सीरिया की सेना के प्रधान सेनापति मार्शल सरित हैं। मार्शल विपुल संग्राम के साथ इनका संघर्ष यद्यपि एक महीने पूर्व से ही चल रहा था किन्तु तब यह वाक्-युद्ध तक ही सीमित थी। प्रधान मन्त्री पर इनका प्रथम प्रहार १६ सितम्बर को हुआ, जब उन्होंने संसद के अपने ५८ सहयोगियों का समर्थन पाकर मार्शल संग्राम से इस्तीफे की माँग की।

मार्शल विपुल संग्राम श्याम के लौह पुरुष थे। त्यागपत्र की माँग के सामने वे नहीं झुके। वे शीघ्र राज प्रासाद गये और नरेश श्री भूमिबल-अरूदेल को स्थिति की सूचना दी। उसके बाद घटनायें सहसा जिस तेजी से घटीं, उसमें प्रधान मन्त्री का टिकना असम्भव हो गया। स्थिति नियन्त्रण से बाहर हुई देख वे पलायित हो गये।

श्री सरित सीरिया के रक्षा मन्त्री थे। लगभग तीन सप्ताह पूर्व प्रधान मन्त्री से मतभेद होने के कारण उन्होंने मन्त्रिमण्डल से तो त्यागपत्र दे दिया था किन्तु प्रधान सेनापति के पद पर वे बने रहे। मन्त्रिमण्डल

से त्यागपत्र देने के बाद प्रधान मन्त्री से उनका मतभेद तेजी से बढ़ने लगा।

मार्शल सरित पिछले १० वर्षों से मार्शल विपुल संग्राम के सहायक थे और यदि यह कहा जाय कि वे शासन में उनके दाहिने हाथ थे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रधान मन्त्री के दूसरे सहायक थे पुलिस विभाग के प्रधान जनरल फाओ। ये पहले मन्त्रि-मण्डल में गृह मन्त्री थे किन्तु बाद में मन्त्रि-मण्डल से पृथक हो पुलिस विभाग का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया था।

मार्शल सरित तथा प्रधान मन्त्री के मतभेद की कहानी का प्रारम्भ पिछले आम चुनाव से हुआ। कहा जाता है कि आम चुनाव में पदस्थ होने के लिए मार्शल विपुल संग्राम ने जो अत्याचार किया तथा सरकारी यन्त्र का अपने पक्ष में जिस प्रकार दुरुपयोग किया उससे श्री सरित को गहरी ठेस लगी। तभी से वे अपने पुराने नेता श्री विपुल संग्राम के विरोधी हो गये।

उस समय प्रधान मन्त्री ने यद्यपि मार्शल-ला घोषित कर स्थिति पर नियन्त्रण पा लिया था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह नियन्त्रण अस्थायी था। उस समय उपद्रव तो नहीं हुआ किन्तु आग भीतर-ही-भीतर सुलगती रही और उपयुक्त अवसर पा वह भभक उठी।

१७ सितम्बर को सीरिया के राजनीतिक इतिहास में नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। उस दिन मार्शल सरित ने शासन यन्त्र पर अधिकार कर लिया और सम्पूर्ण सीरिया में मार्शल-ला घोषित कर दिया। पदच्युत प्रधान मन्त्री विदेश पलायित हो गये। इस सैनिक राज्यक्रान्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि सेना को एक भी गोली नहीं चलानी पड़ी। कहा जाता है कि श्री सरित को शाह का समर्थन प्राप्त था।

मार्शल सरित द्वारा इतनी तेजी से कार्रवाई करने का भी रहस्य था। उन्हें अपनी स्थिति की रक्षा करनी थी और सर्वोपरि सेना की कमान

अपने हाथ में ही रखनी थी। यदि वे ऐसा न करते तो मार्शल विपुल संग्राम की राजनीति के वे शिकार हो गये होते, यह निश्चित था।

मार्शल विपुल संग्राम, मार्शल सरित तथा जनरल फाओ श्याम के तीन लौह पुरुष थे। श्याम की लगभग २ करोड़ जनता के पिछले १० वर्षों से वस्तुतः यही शासक थे। सन् १९४७ में इसी दल ने सैनिक विद्रोह का आयोजन कर तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री प्रिदी को अपदस्थ कर दिया था। श्री प्रिदी इस समय चीन में हैं। युद्धोपरांत सीरिया के वे प्रथम प्रधान मन्त्री थे।

सन् १९४७ के बाद सीरिया में दूसरी क्रान्ति सन् १९५१ में हुई जब नौ-सैनिक अफसरों का दल मार्शल विपुल संग्राम को उड़ा ले गया, किन्तु तब उन्होंने केवल एक रात उन्हें कैद में रख मुक्त कर दिया था। उस समय ४ व्यक्तियों की सैनिक जुन्ता (परिषद्) ने अस्तित्व में आ शासन पर नियन्त्रण स्थापित किया था। मार्शल सरित तथा जनरल फ़ाओ दीर्घकाल से एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे, किन्तु राजनीतिक विरोध को शांत रखने के उद्देश्य से वे अब तक एक साथ मिलकर कार्य करते रहे हैं।

सन् १९५७ के फरवरी में सीरिया में नयी संसद् के लिए हुए चुनाव के बाद इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। चुनाव में गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। उसमें सरकारी दल विजयी अवश्य हुआ किन्तु बहुत कम वोटों से। सरकारी पक्ष द्वारा चुनाव में बरती गयी अनियमितताओं के कारण सरकारी पक्ष अर्थात् विपुल संग्राम से उनके उक्त दोनों साथियों का मतभेद बढ़ जाने के परिणाम-स्वरूप श्री सरित ने अन्ततः २१ अगस्त को तथा जनरल फाओ ने १२ सितम्बर को पदत्याग कर दिया। उस समय उक्त त्यागपत्रों के कारण राजनीतिक सन्तुलन बिगड़ जाने का निश्चित खतरा उत्पन्न हो गया था। ऐसी स्थिति में दोनों नेताओं ने प्रधान मन्त्री को आश्वासन दिया कि विद्रोह की उनकी कोई योजना नहीं है। मार्शल सरित ने इसी छूट का लाभ उठा सीरिया की सरकार को उलट दिया।

अब स्थिति यह है कि सीरिया में सैनिक शासन है। श्री सरित ने अपने को राजधानी बंकाक का सैनिक गवर्नर घोषित कर दिया है। वर्तमान संविधान रद्द कर दिया है, संसद भंग कर दी गयी है और घोषणा की गयी है सन् १६३२ का सविधान पुनः लागू किया जायगा। साथ-ही-साथ श्री सरित ने पश्चिमी राष्ट्रों और विशेषतया अमेरिका को आश्वासन दिया कि सीरिया की परराष्ट्र नीति पूर्ववत् और अपरिवर्तित रहेगी। इस विषय में यह स्मरणीय रहे कि श्री सरित बंकाक के प्रमुख अमेरिका विरोधी पत्र 'सरनसेरी' के आर्थिक सहायक रहे हैं। अपदस्थ प्रधान मन्त्री श्री विपुल संग्राम आजकल जापान में आश्रय लिये हैं।

हिन्देशिया में क्रान्ति

एशिया और अफ्रीका के कई क्षेत्रों में व्याप्त अशांति की स्थिति का कारण पश्चिमी राष्ट्रों की साम्राज्यवादी षड्यन्त्र है। उत्तरी अफ्रीका की घटनाओं से तो यह स्पष्ट है ही, पश्चिमी न्यूगिनी जिसे हिन्देशियाई-पश्चिमी इरियन भी कहते हैं—पर हिन्देशियाई दावे के संबंध में डच-रुख से इसकी और भी पुष्टि हो जाती है। जनवाद, स्वतन्त्रता और शांति की रक्षा के लिए सघटित संयुक्त राष्ट्र संघ जिस तरह एशिया-अफ्रीका में चल रहे साम्राज्यवादी षड्यन्त्रों से सम्बद्ध देशों को मुक्त कराने में विफल रहा है, उसी तरह पश्चिमी इरियन के विवाद का का न्यायोचित निपटारा नहीं करा सका है। हिन्देशिया के प्रतिनिधि ने साधारण सभा के अधिवेशन में चेतावनी दी थी कि यदि राष्ट्र-संघ पश्चिमी इरियन के मामले में डच सरकार को प्रत्यक्ष वार्ता के लिए भी तैयार नहीं कर सका तो हिन्देशिया को राष्ट्रसंघ के बाहर कोई कार्रवाई करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

पश्चिमी इरियन के संबंध में संयुक्त राष्ट्रसंघ में की गयी अपील का कोई ठोस परिणाम न निकलने पर हिन्देशिया ने १ दिसम्बर सन्

१९५७ को डच विरोधी नया कदम उठाया। उसने डच विमान कम्पनी 'के० एल० एम०' को सूचित किया कि ३ ता० से कम्पनी की सभी वैमानिक-सेवाओं पर रोक लग जायगी। यह प्रतिबन्ध ३ ता० से कार्यान्वित भी हो गया। इस प्रतिबन्ध से जकार्ता हवाई अड्डे पर डच विमानों का उतरना बन्द हो गया।

हिन्देशिया ने डचों के विरुद्ध जो दूसरा कदम उठाया, वह डच संस्थानों के विरुद्ध। हिन्देशिया स्थित समस्त डच संस्थानों और कारखानों के हिन्देशियाई कर्मचारियों को आदेश दिया गया कि वे २४ घन्टे की पूर्ण हड़ताल रखें। तीसरे कदम द्वारा डच भाषा के प्रकाशनों और फिल्मों पर रोक लगायी गयी।

हालैण्ड के विरुद्ध हिन्देशिया के उक्त तीन कदम १ दिसम्बर सन् १९५७ को उठाये गये। दूसरे दिन हिन्देशिया सरकार ने डच नागरिकों को अपनी सीमा में प्रवेश करने पर रोक लगा दी। तीसरे दिन हिन्देशिया में डचों का आर्थिक बहिष्कार शुरू हो गया। हालैण्ड की एक बड़ी फर्म पर हिन्देशियाई लोगों ने कब्जा कर लिया। हालैण्ड से रेडियो, टेलीफोन भी भंग किया गया। चौथे दिन हिन्देशियाइयों ने हालैण्ड के ६ और प्रतिष्ठानों पर लाल झंडा फहरा दिया। हिन्देशिया सरकार ने बन्दरगाहों में उपस्थित डच जहाजों के निर्गमन पर रोक लगा दी है।

हालैण्ड और हिन्देशिया के राजनीतिक सम्बन्ध में यह एक नया मोड़ है और साथ ही गम्भीर स्थिति का सूचक है। हालैण्ड के सामने मुख्य समस्यायें हैं—पहला, डच लोगों के हितों की रक्षा और दूसरा, पश्चिमी न्यूगिनी पर हिन्देशिया द्वारा बलात् अधिकार। जहाँ तक पश्चिमी न्यूगिनी पर बलात् अधिकार का प्रश्न है, हिन्देशिया सरकार ने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिमी न्यूगिनी उसका भंग होते हुए भी उस पर अधिकार करने के लिए बल का प्रयोग नहीं किया जायगा। डच नागरिको की वापसी के लिए हिन्देशिया सरकार ने जहाजी व्यवस्था

कर दी है और हिन्देशिया में उपस्थित लगभग ५० हजार डचों से देश छोड़कर चले जाने का नम्रतापूर्वक निवेदन किया गया है। यह कहना गलत होगा कि हिन्देशिया सरकार ने डच नागरिकों को निष्कासित किया है।

लगभग १० वर्ष पूर्व सन् १९४९ में डच ईस्ट इंडीज पूर्वी द्वीप समूह से विशेष सन्धि द्वारा जब डचों ने हटने का निश्चय किया था, उस समय समझौते में इस बात की भी व्यवस्था थी कि पश्चिमी न्यूगिनी के प्रश्न पर बाद में विचार होगा। उस समय यह निर्णय किया गया था कि एक वर्ष बाद इस पर विचारार्थ गोलमेज सम्मेलन होगा। यह सम्मेलन आज तक नहीं हुआ। पश्चिमी न्यूगिनी हिन्देशिया का अंग है और यह निर्विवाद है। हालैन्ड इसे स्वीकार करने में आनाकानी कर रहा था। कुछ वर्ष पूर्व समस्या शातिपूर्ण ढंग से अन्तरराष्ट्रीय पंचायत द्वारा हल करने के उद्देश्य में हिन्देशिया ने यह प्रश्न राष्ट्रसंघ में उठाया, किन्तु उसे अपने इस प्रयत्न मे आज तक सफलता नहीं मिली और विश्व के अन्य शोषित देशों की भाँति साम्राज्यवादियों की शक्ति-कूटनीति का यह भी शिकार बन गया। फलतः हिन्देशिया को अन्य उपायों से काम लेने को विवश होना पड़ा। डचों के विरुद्ध हिन्देशिया द्वारा उठाये गये क्रान्तिकारी कदम इसी निश्चय का परिणाम है।

हिन्देशिया ने हालैण्ड से अपना आर्थिक सम्बन्ध भी विच्छेद कर लिया है, जिसका हिन्देशिया की आर्थिक स्थिति पर गहरा असर पड़ा है। हिन्देशिया के कच्चे माल का खरीद करने वाला अभी हालैंड ही है और अपने उपयोग की तैयार-सामग्री भी उसे हालैण्ड से ही प्राप्त होती है। अब उसे नये बाजार खोलने पड़ेंगे। हिन्देशिया की आर्थिक सहायता के लिए अभी ब्रिटेन, अमेरिका आदि से ही आश्वासन मिला था और अमेरिका से थोड़ा बहुत सहायता प्राप्त भी हो रही थी। डचों के विरुद्ध होने वाली कार्रवाई के पश्चात् भी पश्चिमी राष्ट्र हिन्देशिया को आर्थिक

सहायता देंगे, इसमें संदेह है। हालैण्ड की सम्पत्ति और साधनों का उपयोग जो जब्त कर लिया गया है, हिन्देशिया अपनी आर्थिक व्यवस्था के लिए कर सकता है। लेकिन इस सम्पत्ति और साधनों की जब्ती के मुआवजे का प्रश्न आयेगा। हिन्देशिया के सूचना मन्त्री ने कहा है कि जब तक पश्चिमी इरियन का मामला हल नहीं हो जाता तब तक डच सम्पत्ति के राष्ट्रीकरण और मुआवजे का प्रश्न ही नहीं उठता।

हालैण्ड सरकार ने हिन्देशिया की घटनाओं को अन्तरराष्ट्रीय नियम और व्यवहार के विरुद्ध बताया है। हिन्देशिया में हालैण्ड की डेढ़ अरब पौण्ड अधिक की पूँजी लगी हुई है। हिन्देशिया पर प्रभुत्व के काल में हालैण्ड की समृद्धि का आधार हिन्देशिया के सम्पत्ति-साधनों का उपयोग ही था। हिन्देशिया से आर्थिक सम्बन्ध टूटने से हालैण्ड पर विशेष प्रभाव पड़ेगा ही, वह हिन्देशिया द्वारा, पश्चिमी इरियन पर अधिकार कभी सहन नहीं करेगा। हालैण्ड ने राष्ट्र संघ में अपील करने के बजाय पश्चिमी योरोपीय सामरिक संघटन नाटो के सदस्यों से सहायता माँगी। हालैण्ड की सरकार के अनुरोध पर ७ दिसम्बर से पेरिस में नाटो की स्थायी कौंसिल की बैठक हुई और जिसमें हिन्देशिया की स्थिति पर चिंता प्रकट की गयी। नाटो के अधिवेशन में हिन्देशिया की स्थिति पर विचार करने पर हिन्देशिया ने एक वक्तव्य प्रकाशित कर चेतावनी दी कि अगर नाटो पश्चिमी न्यूगिनी के मामले पर किसी तरह का हस्तक्षेप करता है तो वह एशियाई-अफ्रीकी-राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के विरुद्ध उठाया गया कदम समझा जायगा।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि हालैण्ड ने भारत सरकार से अनुरोध किया है कि हिन्देशिया स्थित डच-हितों को लेकर जो स्थिति उत्पन्न हुई है उसमें नरमी लाने के लिए वह प्रयत्न करे।

८ जनवरी सन् १९५८ को दिल्ली में हिन्देशिया के राष्ट्रपति श्री सुकर्ण तथा भारतीय प्रधान मन्त्री पं० नेहरू में वार्ता हुई। डाक्टर सुकर्ण ने पश्चिमी न्यूगिनी के प्रश्न पर अफ्रीकी-एशियाई देशों के हिन्देशिया का

सहयोग देने के सम्बन्ध में अपने विचार श्री नेहरू के सम्मुख प्रकट किये। उन्होंने काहिरा, लंका, वर्मा और जापान में होने वाली अपनी बातचीत के विषय में भी श्री नेहरू को जानकारी दी।

श्री नेहरू ने पश्चिमी न्यूगिनी के प्रश्न का हल शांतिमय उपायों से करने पर जोर दिया है। उन्होंने इस प्रश्न पर हिन्देशिया की हर संभव सहायता करने का भी आश्वासन डाक्टर सुकर्ण को दिया है।

लेबनान में क्रान्ति

लेबनान की क्रान्ति अरब जागृति का एक मात्र संकेत था। पश्चिमी-एशियाई देशों की भाँति यहाँ भी जनता तत्कालीन व्यवस्था में परिवर्तन चाहती थी। लेबनान के राष्ट्रपति चामूँ और उनकी सरकार पश्चिमी गुट का समर्थक था। जनता में एक नयी लहर फैल रही थी। वह तटस्थ-नीति अपनाना चाहती थी। सरकार को यह असह्य थी। अतः देश-प्रेमियों को विद्रोह का सहारा लेना पड़ा। सर्व प्रथम उपद्रव का केन्द्र उत्तरी लेबनान रहा, इस विद्रोह को दबाने में चामूँ सरकार असफल रही। फलतः उत्तरी लेबनान में एक प्रतिद्वन्द्वी सरकार की स्थापना भी हो गयी। पश्चिमी गुट समर्थक चामूँ सरकार ने पश्चिमी राष्ट्रों से सहायता माँगी। जार्डन और इराक की सैनिक टुकड़ियाँ लेबनान पहुँच गयीं। अमेरिकी नौ सैनिक बेड़ा भी लेबनान से २०० मील की दूरी पर पहुँच गया। दूसरी ओर रूसी नौ सैनिक बेड़ा ने भी अपने काला सागर-स्थित अड्डे से प्रस्थान कर दिया। इस प्रकार लेबनान का घरेलू समस्या एक अन्तर-राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया। यह घटना मई सन् १९५८ की है।

ऐसा देखा जाता है, कि पश्चिमी राष्ट्र तथा रूसी गुट के प्रभाव क्षेत्रों की सीमा पर पर पड़ने वाले राष्ट्रों में यदि कुछ गड़बड़ी होती है तो दोनों गुटों का नेतृत्व करने वाले राष्ट्र अमेरिका और रूस अपने-अपने ढंग से सक्रिय हो जाते हैं। यही बात लेबनान के बारे में भी है।

लेबनान रूस और पश्चिमी राष्ट्रों के प्रभाव क्षेत्र की सीमा पर पड़ता है। अतः दोनों गुट लेबनान की आन्तरिक मामलों में दिलचस्पी लेने लगे। पश्चिमी राष्ट्रों का स्वार्थ वर्तमान व्यवस्था तथा सरकार को सत्तारूढ़ बनाये रखने में थी, इसलिए पश्चिमी गुट ने चामूँ सरकार का समर्थन किया। उधर विद्रोही प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना रूसी गुट के हित में था। अतः रूस ने विद्रोहियों का साथ दिया भी। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भावना विद्रोह के पीछे कार्य कर रही थी। वह भावना थी लेबनान को दोनों गुटों से पृथक कर स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में विकसित करना। मिश्र राष्ट्र को नेतृत्व में अरब जगत में यह भावना काफी तेज़ी से फैल रहा था। लेबनान के राष्ट्रपति के इस आरोप से कि संयुक्त अरब गणतन्त्र के उभाड़ने पर ही उपद्रव आरम्भ हुए हैं, इस भावना की महत्ता समझी जा सकती है।

लेबनान का प्रश्न राष्ट्रसंघ में पहुँचा। मई '५८ के तीसरे सप्ताह में सुरक्षा-परिषद् की बैठक शुरू हुई। सुरक्षा-परिषद् की इस बैठक में लेबनान ने संयुक्त अरब गणतन्त्र पर निम्नलिखित आरोप लगाये। पहला, सीरिया से सशस्त्र दलों का लेबनान में प्रवेश; दूसरा, उनके द्वारा लेबनान निवासियों के धन और जीवन का विनाश; तीसरा, संयुक्त-अरब गणतन्त्र का लेबनान के विरुद्ध विद्रोहियों का साथ देना; चौथा सीरिया द्वारा विद्रोहियों को शस्त्र देना; पाँचवा, संयुक्त अरब गणतन्त्र में रेडियो तथा पत्रों द्वारा लेबनान के विरुद्ध हड़ताल, विद्रोह आदि के लिए प्रचार और छठाँ, विद्रोह के भड़काने वाले अन्य कार्यों में योग देना। लेबनान की इस शिकायत पर विचार करने के लिए ११ जून '५८ को सुरक्षा परिषद् की पुनः बैठक हुई। इस बैठक में सुरक्षा परिषद् ने स्वीडेन के उस प्रस्ताव का जिसमें कहा गया था कि संयुक्त अरब गणतन्त्र के विरुद्ध लेबनान की शिकायत की जाँच करने के लिए राष्ट्रसंघीय जाँच-दल अविलम्ब लेबनान भेजा जाय, बहुमत से स्वीकार कर लिया। इस

प्रस्ताव को कार्यान्वित करने का भार राष्ट्रसंघ के महामन्त्री की डाग हैमरशोल्ड को दिया गया। हैमरशोल्ड ने यह सुझाव दिया कि लेबनान भेजे जाने वाले जाँच दल में भारत, नार्वे तथा इक्वेडर के प्रतिनिधि रखे जायँ।

लेबनान में सैनिक-पर्यवेक्षक के रूप में १० भारतीय सैन्य अधिकारियों का एक दल १६ जून '५८ को प्रातः विशेष भारतीय सैनिक विमान-द्वारा बेरुत रवाना हुआ।

वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त करने के निमित्त १६ जून'५८ को राष्ट्रसंघ के महामन्त्री भी डाग हैमरशेल्ड बेरुत पहुँचे। उन्होंने राष्ट्रपति चामूँ से वार्ता की, तत्पश्चात् आपने पर्यवेक्षक आयोग के सदस्यों से भी बात की। आप ऐंग्लो-अमेरिकी हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। आपका कहना था कि 'सीमा पर्यवेक्षणार्थ संघीय पर्यवेक्षक पर्याप्त है।' उनके विचार में लेबनान का सकट एक घरेलू प्रश्न है।

राष्ट्रसंघ द्वारा लेबनान में नियुक्त तीन देशीय, पर्यवेक्षक दल ने लेबनान की शिकायत के सम्बन्ध में अपनी पहली रिपोर्ट २ जुलाई '५८ को राष्ट्रसंघीय महामन्त्री श्री हैमरशेल्ड के पास भेज दी। पर्यवेक्षक दल ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की पुष्ट नहीं किया कि लेबनान के आन्तरिक मामलों में संयुक्त अरब गणतन्त्र हस्तक्षेप कर रहा है। रिपोर्ट में कहा गया था कि लेबनान के विद्रोही विभिन्न देशों विशेषतया ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी और बेल्जियम में तैयार किये गये शस्त्रों का प्रयोग करते हैं। रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि अधिकांश विद्रोही लेबनान के ही हैं। पर्यवेक्षक दल की रिपोर्ट पर भी लेबनान ने अपनी शिकायत को, कि संयुक्त अरब गणतन्त्र 'एक बड़े पैमाने पर हस्तक्षेप' कर रहा है, पुनः दुहराया है।

एक ओर तो राष्ट्रसंघ के त्रिदेशीय पर्यवेक्षक दल लेबनान की शिकायतों पर छानबीन कर रहा था, दूसरी ओर पश्चिमी कूटनीतिज्ञ

लेबनान के संकट को दूर करने का प्रयत्न करने लगे। उन लोगों ने सरकार और विद्रोहियों के बीच सम्पर्क स्थापित किया और यह प्रस्ताव रखना चाहा कि सरकार और विद्रोही गुट के बीच नये राष्ट्रपति के सम्बन्ध में समझौता हो जाय और २४ जुलाई '५८ के पहले नये राष्ट्रपति का चुनाव भी हो जाय। सरकार की ओर से असहयोग की नीति बरती गयी, जिससे ८ जुलाई '५८ से लेबनान में पुनः उपद्रव शुरू हो गया। बेरुत में कई बम-विस्फोट हुए। कई स्थानों पर गोलियाँ भी चलीं। विद्रोही गुट किसी मध्यम-मार्गी राष्ट्रपति को मान्यता देने के पक्ष में न थी। उसके नेता श्री सईब सलाम का कहना था कि जब तक राष्ट्रपति चामूँ अपने पद पर बने रहेंगे, हम किसी चुनाव का फल स्वीकार नहीं करेंगे। हम राष्ट्रपति चामूँ के तत्काल त्यागपत्र के अतिरिक्त कुछ नहीं स्वीकार करेंगे।

इराक की सैनिक-क्रान्ति के बाद लेबनान की समस्या अति गंभीर हो गयी। १४ जुलाई '५८ को पश्चिमी समर्थक इराकी सरकार का पलड़ा उलट गया। इस स्थिति का सामना करने के लिए लेबनान के राष्ट्रपति चामूँ ने पश्चिमी सहायता माँगी। १५ जुलाई '५८ को अमेरिकी-सेना लेबनान में उतर गयी। अमेरिकी हस्तक्षेप से पर्यवेक्षक दल का कार्य ही ठप पड़ गया। अमेरिका के सैनिक हस्ताक्षेप का लेबनान की सेना ने विरोध किया और १७ जुलाई '५८ को लेबनान के प्रधान सेनापति जनरल फुआद शेहाब ने अमेरिका को यह चेतावनी दी कि वह लेबनान की सीमा से अपनी सेना को २४ घन्टे के भीतर हटा ले। इस हस्तक्षेप पर रूस ने भी एक वक्तव्य प्रकाशित कर स्पष्ट कर दिया कि वह चुपचाप तमाशा नहीं देख सकता। यही नहीं, लेबनान सेना न भेजने को चेतावनी प्रधान अमेरिका सेनाधिकारियों ने भी दी थी। लेकिन अमेरिकी राष्ट्रपति आइसनहावर ने इस चेतावनी की उपेक्षा कर दी।

१६ जुलाई' ५८ को सुरक्षा परिषद् की बैठक पुनः हुई। इस बैठक में अमेरिका ने लेबनान में एक राष्ट्र संघीय पुलिस दल भेजने का प्रस्ताव

रखा जिसकी रूस ने कटु अलोचना की। १७ जुलाई '५८ को स्वीडेन ने सुरक्षा परिषद् में एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसमें यह माँग की गयी कि लेबनान में राष्ट्र संघीय पर्यवेक्षक दल समाप्त कर दिया जाय क्योंकि अमेरिका ने वहाँ हस्तक्षेप किया है। लेबनान से अमेरिकी सेना के हटने का प्रथम संकेत २५ जुलाई '५८ को उप-अमेरिकी प्रतिनिधि द्वारा राष्ट्र-संघ में मिला। अमेरिकी सरकार ने विद्रोही नेताओं को यह आश्वासन दिया कि नये राष्ट्रपति के चुनाव के तुरन्त बाद ही अमेरिकी सेना हटा ली जायगी।

आशा की जा रही थी कि लेबनान का संकट शीघ्र समाप्त हो जायगा, लेकिन फिर वह ढीली दिखाई पड़ने लगी। २६ जुलाई '५८ को विरोध पक्ष की ओर से यह माँग की गयी कि राष्ट्रपति के चुनाव के सभी उम्मीदवारों को अपनी नीति पहले से घोषित करनी पड़ेगी। विरोधियों ने एक घोषणापत्र भी प्रकाशित किया और कहा कि जो इस घोषणापत्र की शर्तों का समर्थन नहीं करेंगे, उन्हें विरोध पक्ष स्वीकार नहीं करेगा।

घोषणापत्र में निम्नलिखित ६ माँगें प्रस्तुत की गयीं—

(१) सभी विदेशी सेनाओं को हटाया जाय।

(२) राष्ट्रपति चामूँ त्यागपत्र दें।

(३) वैदेशिक नीति में तटस्थता और शक्ति गुट-रहित नीति अपनायी जाय।

(४) अरब राष्ट्रीयता की नीति।

(५) सामाजिक एवं शासन-सम्बन्धी सुधार।

(६) समाचारपत्रों पर लगे प्रतिबन्धों का अन्त हो।

(७) संसद द्वारा यह आश्वासन दिया जाय कि उनके विरुद्ध कोई कानूनी कारवाई नहीं की जायगी।

(८) प्रतिनिधि प्रजातांत्रिक सरकार बनाने के लिए आवश्यक वैधानिक सुधार किया जाय।

(९) एक नयी सरकार की स्थापना हो।

राष्ट्रपति आइसनहावर के विशेष दूत श्री राबर्ट मर्फी के प्रयत्न से लेबनान में राजनीतिक समझौता हो गया। ३० जुलाई '५८ को लेबनान में राष्ट्रपति का निर्वाचन हुआ और जनरल शेहाब लेबनान के नये राष्ट्रपति चुने गये। यह मेरोनाइट (सीरियन) ईसाई हैं और सन् १९४५ से लेबनान के प्रधान सेनापति थे। इनके निर्वाचन से पश्चिम परस्त डाक्टर कामिल चामूँ को राष्ट्रपति के पद से हटना पड़ा।

जनरल शेहाब के राष्ट्रपति चुने जाने से १२ सप्ताह[1] से चल रहा उपद्रव समाप्त हो गया। अपने दिये गये आश्वासन के अनुसार अमेरिकी सेना भी लेबनानी भूमि से हट गयी।

फ्रान्स में सैनिक-शासन

१ जून सन् १९५८ को जनरल दे गाल ने अपनी तीसरी सरकार को जन्म दिया। इसके पूर्व भी जनरल दे गाल दो बार सरकार बना चुके हैं—पहली सरकार, २६ सितम्बर सन् १९४४ से २१ अक्टूबर सन् १९४५ तक था और दूसरी, १३ नवम्बर सन् १९४५ से २० जनवरी सन् १९४६ तक।

फ्रान्स योरप में आधुनिक गणतन्त्र की आदि भूमि है। सन् १८७१ में यहाँ संसदीय गणतन्त्र की स्थापना हुई। तत्पश्चात् अनेक सरकारें अस्तित्व में आईं लेकिन राजनीतिक अस्थिरता के कारण टूटती गईं। राजनीतिक अस्थिरता का मुख्य कारण है राजनीतिक दलों की अधिकता। फ्रान्स में इतने अधिक राजनीतिक दल हैं कि जब तक एक-दो दलों में समझौता नहीं होता तब तक कोई सरकार नहीं बन पाती। मिश्रित सरकार बनने पर यदि किसी विषय को लेकर मतभेद होता है तो

सरकार का विघटन निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार का राजनीतिक संकट जून'५८ में उत्पन्न हुआ। इस संकट ने इतना भयावह रूप धारण किया कि गृह-युद्ध निश्चित-सा हो गया। ऐसी स्थिति में जनरल दे गाल ने जिन्होंने राजनीति से सन्यास ले लिया था, फ्रांस की राजनीति में पुनः पदार्पण किया और उनको संविधान तैयार करने का कार्य सौंपा गया।

२६ सितम्बर '५८ को नये संविधान के अन्तर्गत जनमत-गणना हुई। जनरल दे गाल को बहुमत प्राप्त हुआ। केवल फ्रेंचगायना में जनरल दे गाल के पक्ष में बहुत कम मत मिले। यही कारण है कि फ्रेंच गायना को बाद में स्वतन्त्र घोषित कर दिया गया। बहुमत प्राप्त जनरल दे गाल राष्ट्रपति चुने गये। नये संविधान के अनुसार उन्हें शासन-सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त हो गये। इस प्रकार आज वह योरप का सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति है। ऐसे तो स्पेन में जनरल फ्रैंको और पुर्तगाल में डाक्टर सालाज़ार का सैनिक शासन पहले से ही है लेकिन उनका प्रभाव उतना नहीं है जितना योरप में जनरल दे गाल का है।

फ्रान्स में प्रथम गणराज्य की स्थापना सन् १७८९ की क्रान्ति के बाद हुआ था। इसका प्रधान नेपोलियन बोनापार्ट था जो बाद में स्वयं सम्राट बन बैठा और गणतन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया। फ्रान्स में दूसरे गणतन्त्र की स्थापना सन् १८४८ में हुई। इसका अध्यक्ष लुई नेपोलियन चुना गया। इसने भी अपने पूर्वज की तरह सारा शासन सत्ताधिकार अपने हाथों में ले लिया और सन् १८५१ में इस गणतन्त्र को एक राजतन्त्र का रूप दे दिया। जनरल दे गाल ने भी फ्रान्स में गणतन्त्र स्थापित करने का आश्वासन दिया है। उन्होंने फ्रान्स की गिरती हुई स्थिति को उठाने तथा प्राचीन गौरव तक पहुँचाने का संकल्प किया है। लेकिन इतिहास को साक्षी रखकर यह नहीं कहा जा सकता कि फ्रान्स में वास्तविक गणतन्त्र की स्थापना होगी।

इराक की सैनिक-क्रान्ति

१४ जुलाई सन् १९५८ को इराक की सेना ने विद्रोह किया और सरकार का तख्ता ही पलट दिया। प्रधान मन्त्री नूरी-अल-सईद, जो बगदाद पेक्ट के प्रमुख स्तम्भ थे और पश्चिमी एशिया सुरक्षा-संघ के कट्टर समर्थक थे, कत्ल कर दिये गये। गद्दी के उत्तराधिकारी शाहज़ादा अब्दुला भी सेना की क्रोधाग्नि से बच न सके।

सैनिक-क्रान्ति का मुख्य कारण बगदाद पैक्ट के मुस्लिम सदस्यों द्वारा लेबनान के झगड़े में सशस्त्र हस्तक्षेप करने का विचार था। इराक के प्रधान मन्त्री श्री नूरी-अल-सईद को भय था कि लेबनान के विद्रोहियों के हाथों में चले जाने से इराक और जार्डन के राष्ट्रवादियों को भी प्रोत्साहन मिलेगा। अतः वह लेबनान को प्रत्यक्ष सहायता देना चाहता था। इसी उद्देश्य से उसने इस्तम्बूल में १४ जुलाई सन् १९५८ को चार मुस्लिम राष्ट्रों—इराक, ईरान तुर्की और पाकिस्तान के सम्मेलन का आयोजन भी किया था। इस प्रकार का सम्मेलन इराकी सेना को अप्रिय था। वह किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना नहीं चाहती थी। बाध्य होकर, सेना को अपनी असहमति एक क्रान्ति के रूप में प्रकट करनी पड़ी।

१४ जुलाई को बगदाद रेडियो ने अपनी घोषणा में कहा—"यह इराक का गणतन्त्र है। यह आपका विजय-दिवस है। यह आपकी राष्ट्रीयता का दिन है। खुशियाँ मनाइये और प्रसन्न होइये।"

"सड़कों पर आइये और देखिये कि प्रजापीड़क की, जो ईश्वर और जनता का शत्रु था, लाश पर लोग थूक रहे हैं और उस पर ठोकर मार रहे हैं।"

इराक की सैनिक-क्रान्ति से इराक में राजतन्त्र समाप्त हो गया और गणतन्त्र की स्थापना हुई। बगदाद रेडियो ने बताया कि ब्रिगेडियर अब्दुल करीम कासिम इराक के प्रधान मन्त्री, सेनापति और रक्षा मन्त्री,

विरोध पक्ष के सदस्य श्री सादिक, मार्ग दर्शक, मन्त्री और कर्नल अब्दुल सलेम मोहम्मी उपप्रधान मन्त्री नियुक्त किये गये हैं। रेडियो ने यह भी बताया कि सार्वभौम सत्ता की ३ व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त की गयी है। १६ जुलाई को इराक के शाह फैज़ल मार डाले गये।

इराक में सैनिक-क्रान्ति से उत्पन्न स्थिति का सामना करने के लिए लेबनान और जार्डन ने अमेरिका और ब्रिटेन से सहायता की माँग की। सहायता देने के प्रश्न पर अमेरिकी राष्ट्रपति आइसनहावर को सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलानी पड़ी। यह बैठक १५ जुलाई '५८ से आरम्भ हुई। अमेरिकी नौ सेना और ब्रिटिश नौ बेड़े में गतिशीलता आ गई। फ्रान्सीसी युद्धपोतों को तैयार रहने का आदेश दिया गया। अभी सुरक्षा-परिषद् की बैठक ही नहीं हो पायी थी कि अमेरिका ने दो हजार अमेरिकी नौसैनिक को लेबनान में उतार दिया (सुरक्षा-परिषद् की बैठक १५ जुलाई '५८ को भारतीय समय से ८ बजे रात आरम्भ हुई और अमेरिकी नौसेना ६½ बजे शाम उतरी)। सुरक्षा परिषद् की बैठक में रूसी प्रतिनिधि ने अमेरिकी सेना भेजने के कार्य को आक्रामक ठहराया और सेना को शीघ्र हटाने की माँग की। यूगोस्लाव सरकार ने अमेरिकी हस्तक्षेप को खतरनाक और अविवेकपूर्ण बताया।

इराक की सैनिक-क्रान्ति का पश्चिमी राष्ट्रों पर विशेष प्रभाव पड़ा। इस क्रान्ति के फलस्वरूप पश्चिमी राष्ट्रों का बहुत बड़ा समर्थक हाथ से निकल गया। प्रचुर तेल सम्पत्ति वाला यह प्रदेश बगदाद समझौते का एक प्रमुख स्तम्भ था। "उभरती हुई अरब राष्ट्रीयता के खिलाफ पश्चिमी राष्ट्र 'बगदाद समझौते' के द्वारा जो मोरचेबन्दी बनाने चाहते थे उसकी आधारशिला इराक में ही रखी गयी थी।" इराकी क्रान्ति से बगदाद समझौते का भविष्य खतरे में पड़ गया। दूसरे शब्दों में इस क्रान्ति ने इस समझौते की कमर ही तोड़ दी। इराक इस पैक्ट का मुख्य आधार था जो अरब सदस्य न रहा। १४ जुलाई '५८ को

इस्तम्बूल में बगदाद समझौते के राष्ट्रों का सम्मेलन होने वाला था। सम्मेलन की सारी तैयारियाँ पूरी हो चुकी थी लेकिन इस क्रान्ति ने संघ की नींव ही हिला दी। यह सम्मेलन बाद में इस्तम्बूल में न होकर अंकारा में आरम्भ हुआ।

१५ जुलाई '५८ को प्रयाग में प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने कहा—"इराक में जो सैनिक-विद्रोह हुआ है वह अरब राष्ट्रों में बढ़ती राष्ट्रीयता का संकेत है। × × × × × मैं इसे उचित नहीं समझता कि इराक में हुई घटनाओं पर कोई टीका करूँ, लेकिन सभी देशों में राष्ट्रीयता बढ़ रही है इसमें सन्देह नहीं है। इसी प्रकार अरब में भी राष्ट्रीयता बढ़ी है, लेकिन, मुश्किल इस बात की है कि बड़े राष्ट्र बढ़ती राष्ट्रीयता को नहीं समझ रहे हैं। हम उन्हें कोई सलाह नहीं दे सकते।" श्री नेहरू के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि भारत इराकी क्रान्ति को उभरती हुई राष्ट्रीयता समझता है। पश्चिम परस्त इराकी शासकों के विरुद्ध यह एक राष्ट्रीय आन्दोलन था।

श्री नेहरू ने विदेशी हस्तक्षेप की भी कटु आलोचना की। १६ जुलाई '५८ को उन्होंने अपने भाषण में कहा "यदि विदेशी शक्तियाँ इराक और लेबनान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करती हैं तो विश्व-युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना है। × × × × × यह मेरे लिए उचित नहीं है कि मैं कोई आलोचना इन घटनाओं पर करूँ, लेकिन मैं इतना तो कह ही सकता हूँ कि यदि इराक और लेबनान के आन्तरिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप करते हैं तो सम्पूर्ण मानवता के समाप्त हो जाने का खतरा है, क्योंकि जब एक देश हस्तक्षेप करता है तो दूसरा देश भी इसमें कूदने के लिए बाध्य हो जाता है। यदि बाहरी सेनायें सच्चे और ईमानदारी के इरादे से ही हस्तक्षेप करती हैं तो भी इसे एक या दूसरे पक्ष का साथ देना होगा, अतः इसका परिणाम गंभीर खतरा ही है।" अतः भारत, इराक और लेबनान की घटनाओं को आन्तरिक मामला

समझता है। वह विदेशी हस्तक्षेप के विरुद्ध है। वह इन घटनाओं को राष्ट्रीयता का विकास समझता है।

१४ जुलाई '५८ को क्रान्ति हुई और १७ जुलाई '५८ तक रूस, चीन, संयुक्त अरब गणतन्त्र, यूगोस्लाविया और चेकोस्लाविया ने नवगठित इराक गणतन्त्र को 'मान्यता' प्रदान कर दी। १६ जुलाई '५८ को सयुक्त अरब गणतन्त्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने यह भी घोषित कर दिया कि इराक पर आक्रमण संयुक्त अरब गणतन्त्र पर आक्रमण समझा जायगा। २० जुलाई '५८ को सयुक्त अरब गणतन्त्र और इराक के बीच एक रक्षा समझौता भी हो गया जिसके अनुसार इराक, संयुक्त अरब गणतन्त्र और अरब राष्ट्रवाद की रक्षा के लिए इराक को जितने भी शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता होगी संयुक्त अरब गणतन्त्र प्रदान करेगा।

वस्तुस्थित यह है कि इराक आज काफी सुदृढ़ हो गया है। लगभग सभी राष्ट्रों ने उसे मान्यता दे दी है।

पाकिस्तान में सैनिक-क्रान्ति

२७ अक्टूबर सन् १९५८ को पाकिस्तान में रक्तहीन राज्यक्रांति हुई और राष्ट्पति इस्कन्दर मिर्ज़ा ने मार्शल-ला प्रशासक जर्नल अयूब खाँ के हाथों शासनसत्ता सौंप दिया।

८ अक्टूबर '५८ से ही पाकिस्तान के शासन में अनियमिततायें दृष्टिगत होने लगी थीं, जिसके फलस्वरूप राष्ट्पति मिर्जा को देश में मार्शल-ला जारी कर संविधान, संसद केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें और सभी राजनीतिक दलों को भंग करना पड़ा था। इस विकट परिस्थिति में श्री मिर्जा ने प्रधान सेनापति जर्नल अयूब खाँ को ८ अक्टूबर से सर्वोच्च प्रशासक नियुक्त किया। अभी केवल २० दिन ही बीत पाये थे कि राष्ट्रपति मिर्जा को ही शासन से हटना पड़ा। सैनिक प्रशासक

जर्नल अयूब खाँ ने ही राष्ट्रपति के सारे अधिकार स्वयं ले लिये और अब वे राष्ट्रपति, प्रशासक और प्रधान सेनापति तीनों हैं।

मार्च सन् १९५६ में श्री इस्कन्दर मिर्ज़ा पाकिस्तान के प्रथम राष्ट्रपति नियुक्त हुए थे। इसी समय ९ वर्ष बाद पाकिस्तान का संविधान भी बनकर तैयार हुआ था। अपदस्थ होने के एक दिन पूर्व जनरल इस्कन्दर मिर्ज़ा ने जनरल अयूब खाँ को प्रधान मन्त्री की शपथ दिलायी थी और अयूब खाँ को सर्वोच्च सेनापति और जनरल मूसा को पाकिस्तानी सेना का सेनापति नियुक्त किया था। राष्ट्रपति होते ही जनरल अयूब खाँ ने प्रधान-मन्त्री का पद ही समाप्त कर दिया और घोषणा की कि पाकिस्तान में राष्ट्रपतीय पद्धति का मन्त्रिमण्डल बनेगा।

३० अक्टूबर '५८ को जनरल अयूब खाँ ने विदेशी पत्र-प्रतिनिधियों के बीच भाषण दिया। अपने भाषण में जनरल अयूब खाँ ने मिर्ज़ा पर यह आरोप लगाया कि वर्तमान स्थिति उत्पन्न करने वाले राजनीतिज्ञों के साथ उनका भी गहरा संबंध था। उन्होंने कहा कि "यह आम धारणा थी कि मुल्क की राजनीतिक दुरव्यवस्था के लिए मिर्ज़ा भी उतने ही जिम्मेदार हैं जितने दूसरे लोग। इस स्थिति को रोकना मैंने अपना कर्त्तव्य समझा। मैंने अपना फर्ज़ समझा कि मिर्ज़ा से सम्पर्क स्थापित करूँ और स्थिति की स्पष्ट रूप से सूचना दे दूँ। इसीलिए मैंने सोमवार को अपने तीन प्रतिनिधियों, जनरल आजम खाँ, बर्की और के० एम० शेख को मिर्ज़ा के पास भेजा। मिर्ज़ा के इस्तीफा मिलने के बाद मिर्ज़ा से मेरी मुलाकात नहीं हुई। इस्तीफा देने के बाद सुबह ही वे क्वेटा चले गये। उनके साथ मेरी मुलाकात में कोई रुकावट नहीं थी, लेकिन उससे कठिनाइयाँ आ सकती थीं।" मिर्ज़ा पर किये गये उपर्युक्त आरोप से इस बात की स्पष्ट झलक मिलती है कि जनरल इस्कन्दर मिर्ज़ा ने अपनी इच्छा से पदत्याग नहीं किया बल्कि उन्हें बाध्य किया गया।

इस सैनिक-क्रान्ति से पाकिस्तान में लोकतन्त्र सदा के लिए समाप्त हो

गया । आज वहाँ अधिनायक तन्त्र है । शासन की सभी शक्तियाँ आज राष्ट्रपति जनरल अयूब खाँ में निहित है । पाकिस्तान की नीति तथा जनरल अयूब के भाषण भारत के लिए अब विशेष महत्व रखता है । सत्तारूढ़ होने के बाद जनरल अयूब खाँ ने काश्मीर और नहरी पानी पर जो अपना पहला भाषण दिया, उसकी भारत में गहरी प्रतिक्रिया हुई । अयूब खाँ ने अपने भाषण में कहा था कि काश्मीर का प्रश्न पाकिस्तान की सुरक्षा और पूरे अस्तित्व से संबंध रखता है और इसका समाधान शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा होना चाहिए । इस संबंध में यदि हमें अन्तिम उपायों का सहारा लेना पड़ा तो इसकी जिम्मेदारी भारत पर होगी । नहरी पानी के प्रश्न पर आपने कहा कि जब तक पानी की स्थायी व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक भारत को पानी देना चाहिए । यही नहीं, नहरों के निर्माण में होने वाले व्यय भी भारत को ही देना चाहिए । इन दोनों प्रश्नों को लेकर जनरल अयूब खाँ ने 'जेहाद' के नारे की पुनरावृत्ति की है । भारत ने इन सब नारों पर विशेष ध्यान नहीं दिया है लेकिन एक सैनिक अधिकारी के मुख से ऐसी बातें सुनकर आश्चर्य अवश्य प्रकट किया गया । भारत ने इन नारो के उत्तर में अपनी पुरानी नीति को पुनः दुहराया और काश्मीर को भारत का ही एक अविभाज्य अंग ठहराया । भारत ने साथ ही यह भी चेतावनी दी है कि यदि कोई राष्ट्र काश्मीर पर आक्रमण करेगा तो यह आक्रमण भारत पर समझा जायगा । भारत की इस स्पष्ट घोषणा ने जनरल अयूब खाँ के भाषणों में कुछ नरमी अवश्य ला दी है । फिर भी, भारत पहले की अपेक्षा पाकिस्तान से अधिक सतर्क हो गया है ।

बर्मा में सैनिक-क्रान्ति

इराक और पाकिस्तान के बाद बर्मा की सैनिक क्रान्ति का नम्बर आया । सन् १९५७ से बर्मा के प्रधान मन्त्री श्री नू तथा उनके दल के प्रधान श्री उ बास्त्रे में कुछ विषयों को लेकर मतभेद चला आ रहा था । यह मतभेद धीरे-धीरे उग्र होता गया । अतः श्री नू को निष्पक्ष और शांति-

पूर्ण निर्वाचन के निमित्त ६ महीने के लिए देश के शासन को बर्मी प्रधान मन्त्री श्री ने-विन के हाथों में सौंपनी पड़ी। श्री ने-विन ने श्री नू के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और २८ अक्टूबर को उन्होंने विधिवत् सत्ता भी ग्रहण कर लिया।

सत्तारूढ़ होने पर श्री ने-विन ने प्रतिज्ञा की कि वह श्री नू के आदेशानुसार देश में शांति और सुव्यवस्था स्थापित करेंगे और निष्पक्ष निर्वाचन करायेगें। ३१ अक्टूबर' ५८ को बर्मा के नये प्रधान मन्त्री जनरल ने-विन ने संसद् सदस्यों के बीच प्रथम बार भाषण दिया। बर्मा की नीति को बताते हुए उन्होंने कहा कि सरकार तटस्थता और सभी देशों से मित्रता की नीति का अनुसरण जारी रखेगी। आपने कहा कि "यू नू की सरकार द्वारा स्थापित विदेशी नीति में मेरी सरकार कोई परिवर्तन नहीं करेगी और मैं किसी भी मूल्य पर संविधान और प्रजातन्त्र की रक्षा करूँगा।" आपने आगे कहा कि "आम चुनाव में मैं किसी भी दल या कार्य की सहायता नहीं करूँगा। मैं ६ माह के अन्दर चुनाव कराने का प्रयास करूँगा।" जनरल ने-विन ने अपने भाषण में बर्मा की वर्तमान शांति और व्यवस्था की दशा की तुलना सन् १९४८ की स्थिति से किया जब सशस्त्र विद्रोहियों ने अपना क्षेत्र विस्तृत कर दिया था।

श्री ने-विन द्वारा नव-गठित स्थायी सरकार में आठ मन्त्री हैं जिसमें सेना से एक भी व्यक्ति नहीं है। सभी मन्त्री नागरिक प्रशासन तथा उच्च न्यायालयों के अनुभव वृद्ध व्यक्ति हैं।

इस प्रकार बर्मा की क्रान्ति इराक, पाकिस्तान आदि की सैनिक-क्रान्तियों से बिल्कुल भिन्न है। बर्मा में प्रधान मन्त्री ने स्वयं शांति और सुव्यवस्था के निमित्त शासन की बागडोर को एक सेनापति के हाथों में सौंपा। इसके पूर्व सेना तथा प्रधान मन्त्री में कोई मतभेद न था। यही नहीं, बर्मा में क्रान्ति के बाद जिन आठ मन्त्रियों का मण्डल बना, उसमें सेना का कोई व्यक्ति न था। पाकिस्तान की क्रान्ति बिल्कुल भिन्न थी।

पाकिस्तान में शासन तथा सेना में गहरा मतभेद था और राष्ट्रपति इस्कन्दर मिर्जा को बलपूर्वक सत्ता सौंपना पड़ा। सम्पूर्ण देश में सैनिक शासन छा गया।

सूडान में सैनिक-क्रान्ति

इराक, पाकिस्तान और बर्मा के बाद १७ नवम्बर सन् १९५८ को सूडान (Sudan) में भी सैनिक-क्रान्ति हो गयी। प्रधान सेनापति जनरल इब्राहीम अबू के नेतृत्व में सूडान की सेना ने पूर्व निश्चित योजनानुसार सूडान का शासन अपने हाथों में ले लिया। शासन की बागडोर को अपने हाथों में लेते ही जनरल अबू ने संसद तथा सभी राजनीतिक दलों को भंग कर दिया। संविधान स्थगित कर दिया गया, समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध लग गया, सार्वजनिक सभाओं पर रोक लगा दिया गया तथा देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर दी गयी। जनरल अबू ने १२ सदस्यों का एक मन्त्रिमण्डल और १३ सदस्यों का एक क्रान्ति-परिषद अपनी अध्यक्षता में स्थापित किया। मन्त्रिमण्डल में सदस्य सेना के थे जब कि क्रान्ति-परिषद् में केवल सैनिक नेता ही रखे गये।

क्रान्ति-परिषद् ने अपने निर्णय में घोषित किया कि सूडान जनतान्त्रिक गणतन्त्र होगा जिसकी प्रभुसत्ता जनता के हाथों में निहित होगी। परिषद् ने सम्पूर्ण संवैधानिक अधिकारों को अपने हाथों में लेकर उन्हे अपने अध्यक्ष जनरल अबू को दे दिया। अध्यक्ष को सम्पूर्ण व्यवस्थापन, प्रशासन, न्यायिक और सशस्त्र सैनिक कमान के अधिकार प्राप्त रहेंगे। जनरल अबू ने प्रधान मन्त्री और सुरक्षा मन्त्री का पद ग्रहण किया है और क्रान्ति-परिषद् के ही ६ सैनिक नेता जिन्हें मन्त्रिमण्डल में भी रखा गया है, गृह, सूचना, कृषि, ताजीरात, संवहन और राष्ट्रीय समस्याओं के विभाग का कार्य करेंगे।

१९ नवम्बर को क्रान्ति के नेता जनरल इब्राहीम अबू ने प्रधान एवं

रक्षामन्त्री तथा सशस्त्र सेना की सर्वोच्च पद के लिए' शपथ ग्रहण किया।

सूडान ने शीघ्र ही अपनी परराष्ट्र नीति भी घोषित कर दी। इस घोषणा के अनुसार सूडान संसार की गुटबन्दी से पृथक रहेगा लेकिन कैमरून, साइप्रस एवं अल्जीरिया की स्वतन्त्रता का समर्थन करेगा। सूडान ने लाल चीन को भी मान्यता दे दी है और आशा प्रकट की है कि संयुक्त-अरब गणतन्त्र के साथ उसका व्यवहार अच्छा रहेगा। वह विदेशी सहायता की भी स्वागत करेगा यदि ऐसी सहायता के साथ कोई बन्धन न होगा। सूडान की परराष्ट्र नीति मुख्यतः देश के हित तथा मानव-कल्याण पर आधारित रहेगी। इस प्रकार सूडान की परराष्ट्र नीति भारत, संयुक्त अरब गणतन्त्र, इराक जैसे तटस्थ देशों की परराष्ट्र नीति से मिलती-जुलती है। ये सभी राष्ट्र युग की उलझनों में फँसना नहीं चाहते, ये फँसे हुए परतन्त्र देशों को मुक्त देखना चाहते हैं। ये सभी बन्धन-रहित सहायता का स्वागत करते हैं। सूडान की परराष्ट्र नीति से इस बात की स्पष्ट झलक मिलती है कि वह भी मिश्र और संयुक्त अरब गणतन्त्र की तरह उन्नति करना चाहता है।

अध्याय ८

उत्तरी योरप

(Northern Europe)

उत्तरी योरप में स्थित डेनमार्क, फिनलैंड, स्वीडेन और नार्वे देश अपने विचित्र ऋतु परिवर्तनों तथा ऊषा काल के असाधारण रंग-विरंगे प्रकाश आदि के लिये प्रसिद्ध हैं। प्राकृतिक वैभव के साथ ये राज्य लोकतन्त्रीय शासन की दिशा में सबसे आगे बढ़े हुये राज्य हैं। सहकारी-आन्दोलन ही मुख्यतः अर्थ-व्यवस्था का आधार है। जनसंख्या कम होते हुए भी प्रति व्यक्ति की आय का स्तर बहुत ऊँचा है। लेकिन अपनी विशेष भौगोलिक स्थिति के कारण युद्धोत्तर काल के रूस और पश्चिमी देशों की तनातनी में ये राज्य बुरी तरह फँस गये हैं।

द्वितीय महायुद्ध में हिटलर डेनमार्क और नार्वे पर चढ़ आया था। रूस ने फिनलैंड पर कब्जा कर लिया था। जब पश्चिमी योरपीय सामरिक संगठन (नाटो) बना, तब डेनमार्क और नार्वे इस संगठन में शामिल हो गये। पश्चिमी राष्ट्रों ने जब नाटो राष्ट्रों को परमाणु बमों से सज्ज करने तथा इन राज्यों में सामरिक अड्डे बनाने के निश्चय की घोषणा की तब रूस के प्रधान मन्त्री श्री बुलगानिन ने इन राज्यों को नाटो-संघटन से पृथक रहने की चेतावनी दी।

स्वीडेन की नीति एक तरह से गुट निरपेक्ष नीति है। फिर भी वह अपने बड़े पड़ोसी रूस की नीति के प्रति संशक रहता है। फिनलैण्ड और रूस के संबंध भी अच्छे नहीं थे। लेकिन हाल में रूस के नेता श्री

बुलगानिन और श्री कुश्चेव की यात्रा के बाद से दोनों देशों के सम्बन्धों में काफी सुधार हो गया है।

उत्तरी योरप में विशेषकर, डेनमार्क और नार्वे में भय और घृणा का वातावरण व्याप्त है। योरोपीय राज्य शीत-युद्ध से इतना आतंकित हो गये हैं कि गुट-निरपेक्षता और समझौते के सिद्धान्त का वे गलत अर्थ लगाते हैं। सन् १९५७ में प्रधान मन्त्री पं० नेहरू उत्तरी योरप की यात्रा करते हुये जब डेनमार्क पहुँचे और वहाँ पर उन्होने भाषण दिया तो उस भाषण की टीका करते हुये डेनमार्क के एक पत्र ने लिखा कि नेहरू जी का समझौते और सद्भाव की ओर झुकाव का अर्थ साम्यवाद की ओर झुकाव है। इसी से प्रकट हो जाता है कि भारत और भारत की तटस्थता की नीति के प्रति विदेशों में कितनी गलतफहमी है। डेनमार्क के प्रधान मन्त्री ने नेहरू जी का स्वागत करते हुये कहा था कि भारत ने पिछले दस साल में जनवाद की ओर काफी प्रगति की है, जिसे नेहरू जी को यह कहकर ठीक करना पड़ा कि भारत जनवादी राष्ट्र है। यही बात सामयिक गुटबन्दियों के भारतीय विरोध के सम्बन्ध में है। भारत के प्रति गलत धारणा होने के कारण ही काश्मीर के विवाद के संबंध में इन देशों के पत्र और नेता भारत के रुख के आलोचक रहे हैं।

अध्याय ९

लाल चीन

(Red China)

लाल चीन का जन्म द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हुआ है। द्वितीय महायुद्ध में सक्रिय भाग लेने के कारण चीन देश की आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक स्थिति काफी डाँवाडोल हो गई थी। जनता असन्तुष्ट थी। कम्यूनिस्टों का प्रचार अधिकाधिक उग्र हो रहा था। सेना में असन्तोष की लहर फैल रही थी। अशान्तमय स्थिति पर नियन्त्रण पाने में च्यांग-काई-शेक की सरकार असफल हो रही थी। च्यांग-काई-शेक के लिये पलायन के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न था। अतः च्यांग-काई-शेक को फारमोसा में शरण लेनी पड़ी। आज वह फारमोसा में बैठे अपने को चीन का राष्ट्रपति कहते हैं। च्यांग की सरकार को केवल कुछ स्वार्थी पश्चिमी राष्ट्रों ने ही मान्यता प्रदान की है।

मुख्य चीनी भूमि पर कम्यूनिस्टों का आधिपत्य है। उनकी सरकार शासन कर रही है। एक गणतन्त्र राज्य की स्थापना है जिसके प्रथम राष्ट्रपति श्री माओत्से-तुंग हैं और प्रधान मन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई हैं। सन् १९५० से अब तक लाल चीन ने काफी प्रगति की है। १४ फरवरी सन् १९५० को लाल चीन ने सोवियत रूस के साथ ३० वर्ष के लिए एक सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चित हुआ कि जब कभी जापान अथवा उसका मित्र राष्ट्र चीन पर आक्रमण करेगा तो रूस लाल चीन की सहायता करेगा। कम्यूनिस्ट चीन १४ मई सन् १९५५ को वारसा-

सन्धि का भी एक सक्रिय सदस्य बन गया। लाल चीन अपने को एक तटस्थ राष्ट्र घोषित करता है, लेकिन उसका अधिक झुकाव रूस की ओर है और उसी की संरक्षता में अपने को एक सर्व शक्तिशाली राष्ट्र बनाने में सफल हुआ है।

लाल चीन सम्बन्धी तीन प्रश्न हैं जो अन्तरराष्ट्रीय रूप धारण कर चुके हैं और जिसका समाधान करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ अब तक असफल रहा है—पहला, फारमोसा, दूसरा, चीनी जल सीमा का विस्तार और तीसरा, चीनी प्रतिनिधित्व का प्रश्न।

(१) फारमोसा

कम्यूनिस्ट चीन के उदय के साथ-साथ फारमोसा-समस्या का भी जन्म हुआ है तथा फारमोसा की सत्ता को लेकर विश्व-शांति के भंग होने की कई बार आशंका हो चुकी है।

चीन और फारमोसा का सम्बन्ध—फारमोसा का वास्तविक नाम तैवान है। चीन और फारमोसा का आज से नहीं, हजारों वर्ष से घना सम्बन्ध रहा है। सुई राजवंश (५१८ से ६१६ ई०) के काल से ही चीनियों का पर्याप्त संख्या में फारमोसा में जाकर बसना शुरू हो गया था। आज भी अधिकांश निवासी फ्यूकिन और क्वांगतुंग से गये हुए चीनियों के ही वंशज हैं और वे इन्हीं दोनों प्रान्तों की भाषा बोलने और रीति-रिवाजों को मानते हैं।

यद्यपि सन् १८७४ में जापानियों और सन् १८८४ में फ्रान्सीसियों ने फारमोसा पर अधिकार करने के लिए आक्रमण किया किन्तु उन्हें निराशा ही हुई। सन् १८६४ में जापानियों ने चीन पर आक्रमण किया। चीन की पराजय हुई। सन् १८६५ में चीन के साथ जो सन्धि हुई उसमें चीन को फारमोसा जापान के हवाले करना पड़ा। पहले तो इस द्वीप की जनता ने सन्धि भंग के लिए चीन से माँग की लेकिन जब

चीन ने दुर्बलता के कारण अपनी असमर्थता प्रकट की तब द्वीप की जनता ने जनतन्त्र की घोषणा कर विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दी जो ५० वर्ष (सन् १८९५ से सन् १९४५) तक चलता रहा।

द्वितीय विश्व व्यापी युद्ध के समय जब ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और चीन मित्र राष्ट्र थे और जापान तथा जर्मनी से लड़ रहे थे, मिश्र की राजधानी काहिरा में सन् १९४३ में प्रधान मन्त्री चर्चिल, राष्ट्रपति रूज़वेल्ट, मार्शल स्टालिन और मार्शल च्यांग-काई-शेक में यह निश्चय हुआ कि जापान की पराजय के बाद फारमोसा चीन को लौटा दिया जायगा क्योंकि वह सदा से चीनियों का रहा है। ३ सितम्बर सन् १९४५ को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया जिसके फलस्वरूप फारमोसा चीन के अधिकार में आ गया।

अमेरिका का हस्तक्षेप—अब तक किसी भी राष्ट्र ने फारमोसा पर चीन के अधिकार का विरोध नहीं किया था। सन् १९४९ में च्यांग-काई-शेक कम्यूनिस्टों से पराजित हुआ और उसने अपने सैनिकों तथा सहायकों के साथ फारमोसा में शरण लिया। जब कम्यूनिस्टो ने इस द्वीप को भी मुक्त करना चाहा तब अमेरिका बीच में आया। कोरिया-युद्ध आरम्भ होने के तीसरे ही दिन ३० जून सन् १९५० को राष्ट्रपति ट्रूमन ने द्वीप की रक्षा के लिए ७वीं जहाजी बेड़ा तैनात कर लिया। दिसम्बर सन् १९५४ में अमेरिका और च्यांग में पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि भी हुई।

विश्व-मत—ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री इडेन का कहना है कि फारमोसा की सत्ता विधिवत् किसी को सौंपी नहीं गयी है। प्रमुख अमेरिकी विशेषज्ञ वाल्टर लिपमैन का कहना है कि अमेरिका ने जापान को हराया और इसलिए फारमोसा पर अमेरिका का अधिकार है। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने फरवरी सन् १९५५ के भाषण में फारमोसा को चीन का एक अविच्छेद्य अंग माना है तथा उस पर चीन के अधिकार को न्यायोचित ठहराया है। प्रधान मन्त्री पं० नेहरू से जब फारमोसा राज्य के बारे में पूछा गया था

तब उन्होंने उत्तर दिया था कि "मैं फारमोसा को एक छोटे से द्वीप के रूप में जानता हूँ। मुझे मालूम नहीं कि फारमोसा नाम का कोई राज्य भी है।"

अमेरिकी चाल—च्यांग का साथ देने में अमेरिका की एक बहुत बड़ी चाल है। पूँजीवाद और साम्यवाद का जन्म से ही एक दूसरे से विरोध रहा है। अमेरिका साम्यवाद की प्रगति को रोकना चाहता है। वह जानता है कि रूस की सहायता से कम्यूनिस्टों ने चीन पर विजय पायी है। च्यांग-काई-शेक अमेरिका के हाथों का कठपुतली है। वह च्यांग का पक्ष लेकर सुदूर उत्तर पूर्वी देशों में हस्तक्षेप कर सकता है। अगर फारमोसा च्यांग के हाथों से निकल गया तो उत्तर पूर्वी क्षेत्र में कम्यूनिस्टों का बोलबाला हो जायगा और अमेरिका को हस्तक्षेप करने का अवसर न मिलेगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि भविष्य में चीन या रूस से युद्ध छिड़ा तो फारमोसा उनके लिए एक अच्छे सैनिक आधार का काम करेगा।

वर्तमान स्थिति—फारमोसा को लेकर स्थिति जितनी गम्भीर पहले थी, उतनी अब भी है। च्यांग अब भी फारमोसा में है। अमेरिकी सेना अब भी उसकी सहायता के लिए तैनात है। अब भी संयुक्त राष्ट्र संघ में फारमोसा का प्रतिनिधि सम्पूर्ण चीन का प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय रक्षामन्त्री श्री बी० के० कृष्ण मेनन ने फारमोसा के प्रश्न को सुलझाने में विशेष दिलचस्पी लिया है।

२९ सितम्बर '५८ को टेलीविज़न पर एक साक्षात्कार कार्यक्रम में श्री बी० के० कृष्ण मेनन ने पूर्वी एशिया पर प्रकाश डालते हुए फारमोसा के प्रश्न के समाधान के निमित्त ३ शर्तें उपस्थित कीं। पहला, पश्चिमी राष्ट्र तथा च्यांग सरकार बलपूर्वक नहीं वरन् शान्तिपूर्वक निबटाने की प्रतिज्ञा करें। दूसरा, उभयपक्ष यह स्वीकार करे कि यह प्रश्न फारमोसा का नहीं बल्कि 'चीनी जलक्षेत्र' का है। तीसरा, जनरल च्यांग-काई-शेक को

समझाया जाय कि युद्ध प्रयास से तनाव घटने की अपेक्षा बढ़ेगी।

यद्यपि विश्व के अधिकांश राष्ट्रों विशेषतः भारत और रूस के प्रयत्न करने पर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ में कम्यूनिस्ट चीन को स्थान नहीं मिल पाया है, पश्चिमी राष्ट्रों मुख्यतः अमेरिका के विरोध के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ चीन को स्थान देने की समस्या को सुलझा नहीं पा रहा है। अमेरिका जानता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन को स्थान मिल जाने से फारमोसा के चीन में विलय होने में देर न लगेगी और पूर्वी राष्ट्रों की शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हो जायगी। राष्ट्रसंघ में चीन जैसे प्रगतिशील एवं विशाल देश का प्रतिनिधित्व न होना संघ की एक कमजोरी सिद्ध होती है। प्रत्येक विवेकशील राष्ट्र को मदांध नीति का परित्याग कर ५० करोड़ जनता की प्रतिनिधित्व के लिए सतत् प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा राष्ट्र संघ जैसी संस्था का न होना ही उचित है।

(२) चीनी जलसीमा का विस्तार

चीन द्वारा जलसीमा के विस्तार की घोषणा ने एक दूसरी समस्या पैदा कर दी है। ४ सितम्बर '५८ को चीनी सरकार ने घोषणा की कि वह अपनी क्षेत्रीय जलसीमा (सामुद्रिक) १२ मील तक बढ़ा रही है। चीन ने यह भी घोषणा की कि बिना अनुमति के कोई भी विदेशी जहाज चीनी जलसीमा में न घुसे।

जलसीमा विस्तार की घोषणा के अन्तर्गत च्यांग अधिकृत केमाय, मात्सू, फारमोसा और पेरकाडोर्स के द्वीप चीनी जलसीमा में आ जाते हैं। वास्तव में ये द्वीप मुख्य चीन के ही अंग हैं। पहले ये द्वीप जापान के अधीन थे लेकिन द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ये द्वीप चीन के अधीन हो गये। अतः अमेरिका का यह कहना कि फारमोसा और पेस्काडोर्स कभी भी चीन के अधिकार में नही रहा है, गलत है।

चीनी घोषणा की प्रतिक्रिया सबसे अधिक च्यांग के मुख्य समर्थक

और शुभचिन्तक राष्ट्र अमेरिका में हुई। अमेरिकी राष्ट्रपति आइसन-हावर को यह चेतावनी देने में जरा भी हिचक नहीं आयी कि—"यदि फारमोसा की रक्षा के लिए आवश्यक समझा गया तो तट के निकटवर्ती कोमिंतांग अधिकृत टापुओं के रक्षार्थ अमेरिका सशस्त्र सेनाओं को लगा देने में हिचकेंगे नहीं।" ब्रिटेन वास्तविकता से परिचित है लेकिन वह अमेरिका के विरुद्ध जाना नहीं चाहता था। अतः उसने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त न की। भारत का दृष्टिकोण तो पहले से ही बताया जा चुका है। भारत केमाय, मात्सू और पेस्काडोर्स को ही नहीं, बल्कि फारमोसा को भी चीन का अंग समझता है। विश्वमत को चीन के पक्ष में पाकर अमेरिका को अपने दृष्टिकोण को नरम करना पड़ा। इतना होते हुए भी अमेरिका ने चीनी जलविस्तार को स्वीकार नहीं किया है।

चीन की इस घोषणा के बाद से ही केमाय और मात्सू मुक्त करने के निमित्त चीनी भूमि से गोलाबारी आरम्भ हो गयी। एक दिन में हजारों की संख्या में गोला बरसने लगे। इनकी रक्षार्थ जापान स्थित सातवाँ अमेरिका बेड़ा ने फारमोसा की ओर प्रस्थान कर दिया। अमेरिकी युद्धक-विमान चीनी जल सीमा के अन्दर मँडराने लगे। अमेरिकी विमान के देख-रेख में केमायं और मात्सू को रसद पहुँचायी जाने लगी। कम्यूनिस्ट चीन ने अमेरिका पर चीनी जल सीमा भङ्ग करने का आरोप लगाया। उसने पचास से अधिक कड़ी चेतावनी दी। स्थिति अति गंभीर हो गयी लेकिन तटस्थ देशों विशेषतया भारतीय रक्षामन्त्री श्री वी० के० कृष्ण मेनन के हस्तक्षेप से संकट कुछ समय के लिए टल गया है।

(२) चीनी प्रतिनिधित्व का प्रश्न

लाल चीन की स्थापना के लगभग ६ वर्ष हो रहे हैं और पिछले चार-पाँच वर्षों से उनके प्रतिनिधित्व की समस्या संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने चली आ रही है। लेकिन अब तक राष्ट्र संघ कोई निश्चित कदम नहीं ले पा रहा

है। लाल चीन की मान्यता लगभग सभी राष्ट्रों ने दे दी है। केवल अमेरिका अपने स्वार्थों के कारण मान्यता नहीं दे रहा है। इस ओर भारत का प्रयत्न सदा प्रसंशनीय रहेगा। प्रत्येक वर्ष भारत चीन के प्रतिनिधित्व की समस्या को राष्ट्रसंघ के सामने लाता है लेकिन अमेरिका तथा उसके समर्थक राष्ट्रों के विरोध के कारण असफल रहता है।

कितने आश्चर्य की बात है कि राष्ट्रसंघ जो अपने को एक प्रतिनिधि संस्था कहता है, चीन जैसे राष्ट्र को अभी तक सदस्य बनने के अधिकार से वंचित रखा है। जहाँ घाना जैसे छोटे राज्य का प्रतिनिधि है, वहाँ लाल चीन जैसे विशाल राष्ट्र का, जिसकी जनसंख्या विश्व के राष्ट्रों में सबसे अधिक है; कोई प्रतिनिधि ही नही है। ऐसे तो कहने के लिए संघ में चीन का प्रतिनिधित्त्व है। लेकिन यह प्रतिनिधि मुख्य चीन का नहीं है एक टापू का है जो फारमोसा कहलाता है और जिस पर अमेरिका का समर्थक च्यांग-काई-शेक का शासन है। यह फारमोसा भी कोई स्वतन्त्र टापू नहीं है। यह मुख्य चीन का ही एक अविभाज्य अंग है जिस पर माओत्से तुंग का शासन है।

कम्यूनिस्ट चीन का संसार के अधिकांश राष्ट्रों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध है। बहुत से राष्ट्रों के साथ चीन का व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित है। अमेरिका ने न तो मान्यता ही दी है और न व्यापारिक सम्बन्ध ही रखा है।

गत वर्षों की भाँति सन् १९५८ में भी भारत ने चीन के प्रतिनिधित्व की समस्या को उठाया। संचालन-समिति की सूची में चीनी-समस्या को लिए भी रखा गया। अन्य वर्षों की तरह गत वर्ष भी अमेरिका इस प्रश्न के लिए मुख्य रोड़ा बना। भारत ने प्रस्ताव रखा था कि समिति का यह "अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह इस विषय पर बहस करे। यदि वह ऐसा नहीं करती तो महा समिति के नियम का उल्लंघन करने के आरोप से मुक्त नहीं हो सकती।" भारतीय प्रस्ताव के विरोध में अमे-

रिका ने दूसरा प्रस्ताव रखा जिसमें यह कहा गया कि कोमिंतांग चीन को हटाकर राष्ट्र संघ में लाल चीन के प्रतिनिधि को शामिल नहीं किया जा सकता। १६ सितम्बर '५८ को संचालन समिति ने भारतीय प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। भारत का प्रस्ताव केवल ४ मतों से गिर गया। एशियाई राष्ट्रों में जापान, पाकिस्तान फारमोसा और ने भारतीय प्रस्ताव के विरुद्ध मत दिया।

२३ सितम्बर '५८ को राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में संचालन-समिति के उस सिफारिश पर जिसमें कहा गया था कि चीनी प्रतिनिधित्व के प्रश्न को वर्तमान अधिवेशन में रखा जाय, पुनः बहस शुरू हुई। अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी राष्ट्रों ने संचालन समिति के प्रस्ताव का समर्थन किया। मतदान में भारत का प्रस्ताव फिर गिर गया। गत वर्ष के मतदान की विशेषता यह रही कि लैटिन अमेरिका के किसी भी राष्ट्र के प्रतिनिधि ने चीनी वाद-विवाद में भाग नहीं लिया।

कम्यूनिस्ट चीन को प्रतिनिधित्व न देकर राष्ट्रसंघ ने एक भारी भूल की है। एक राष्ट्र के स्वार्थों के लिए ४० करोड़ जनता के प्रतिनिधित्व को टाला जाय, उचित नहीं जान पड़ता। कम्बोडिया के प्रधान मन्त्री श्री नरोत्तम सिंहानूक के मतानुसार "लाल चीन को संघ में न लेना सभी तनावों की जड़ है।" संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासमिति में विश्व-समस्या पर बोलते हुए श्री नरोत्तम सिंहानूक ने २४ सितम्बर '५८ को कहा था—"यह देखकर खेद हुआ कि लाल चीनी प्रतिनिधित्व की गंभीर समस्या पुनः अवरुद्ध रखी गयी। विश्व गुटों में बँट गया है और दलबन्दी द्वारा मतदान की व्यवस्था चल रही है। हम सत्य को किसी की बपौती नहीं मानते। अंशतः सत्य सभी राष्ट्रों के साथ है। यहाँ के भाषणों से प्रकट हुआ कि महान् राष्ट्र एक दूसरे को आक्रामक समझते हैं। अच्छा हो, एक निष्पक्ष समित बना दी जाय जो न्याय को दृष्टि में रख उनके स्वार्थों की देखभाल करती रहे। सच्चे अहस्तक्षेप

की नीति से काम हो और विवादों की जाँच एवं नियन्त्रण संघ के हाथ में रहे। लाल चीन को संघ के बाहर रखना ही झगड़ों की जड़ है। पश्चिम में भी उसी कारण तनाव फैला है।"

१५ जनवरी सन् १६५६ को संयुक्त राष्ट्रसंघ के अध्यक्ष लेबनान के डाक्टर चार्ल्स मलिक ने यह भविष्यवाणी की कि लाल चीन को अब शीघ्र ही राष्ट्रसंघ में स्थान मिल जायगा। आपके कथनानुसार "एक-वर्ष तक अमेरिका राष्ट्रसंघ में कम्यूनिस्ट चीन का विरोध कर सकता है किन्तु धीरे-धीरे इस प्रश्न पर अमेरिका को कम समर्थन मिल रहे हैं। अब वह समय समीप आ रहा जब इस प्रश्न पर अमेरिका पराजित होगा।"

आशा है श्री मलिक की भविष्यवाणी सत्य होगी और कम्यूनिस्ट चीन राष्ट्रसंघ का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य बन जायगा।

अध्याय १०

भारत और पाकिस्तान

(India and Pakistan)

भारत

ऋषियों और महात्माओं की इस पुण्य भूमि में दीर्घकालीन परतन्त्रता के पश्चात् १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतंत्रता के दीप जगमगा उठे। भारतवर्ष स्वतंत्र अवश्य हुआ, लेकिन खंडित और विभाज्य रूप में। विदेशी कुचक्र के फलस्वरूप भारतवर्ष में एक भाग को स्वतंत्र राष्ट्र का रूप देना पड़ा जो "पाकिस्तान" कहलाया। फिर भी भारत ने प्रगति की ओर तत्परता दिखलाई। तीन वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद भारत का नया संविधान भी तैयार हो गया जो २६ जनवरी सन् १९५० से सम्पूर्ण देश पर कार्यान्वित है। यह एक वृहत संविधान है। इसमें विश्व के प्रमुख संविधानों की झाँकी मिलती है। यह विश्व का सबसे बड़ा संविधान है।

भारत एक धर्म निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य है जो संविधान की प्रस्तावना से ही स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तावना में लिखा है—"हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज

तारीख २६ नवम्बर १९४९ ई० (मिति मार्गशीर्ष शुल्का सप्तमी संवत २००६ विक्रमी) को राष्ट्र द्वारा इस संविधान को अङ्गीकृत, अधिनियमित और आत्मर्न्वित करते हैं।" विश्व में जहाँ अनेक राजनीतिक उथल-पुथल हुए हैं, सैनिक क्रांन्तियाँ हुई हैं, भारत का लोकतंत्रात्मक गणराज्य अपने उत्तरदायित्व को निर्भयतापूर्वक निभा रहा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत ने आशातीत उन्नति की है। इस उन्नति को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—सामाजिक, औद्योगिक और परराष्ट्र नीति सम्बन्धी।

सामाजिक उन्नति

भारतीय गणराज्य की एक महान् विशेषता यह है कि वह धर्म निरपेक्ष है। जहाँ पाकिस्तान अपने को एक इस्लाम देश घोषित करता है और इस्लामी राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त करना चाहता है, वहाँ भारत अपने को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित करता है और संसार के सभी राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त करना चाहता है। इस भूमि पर पूरी धार्मिक स्वतंत्रता है। धर्म के नाम पर कोई अत्याचार नहीं होता। धर्म, जाति, वर्ण और सम्प्रदाय के लोगों को समान समझा जाता है तथा उन्हें समान अधिकार भी प्राप्त हैं। संविधान में अल्प संख्यको के हितों की पूरी रक्षा की गई है। भारत की धर्म-निरपेक्ष नीति की राष्ट्रसंघ में भी काफी प्रशंसा हुई है। ११ जनवरी '५८ को राष्ट्रसंघ की उपसमिति में बोलते हुए ब्रिटिश प्रतिनिधि श्री रिचार्ड हिसाक्स ने कहा है—"भारत में विश्व के दो प्रमुख नेताओं—महात्मा गांधी तथा नेहरू जी ने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अस्पृश्यता निवारण के मामले में साहस के साथ क्रान्ति की। इन्होंने अल्प संख्यकों के प्रति भी सराहनीय नीति अपनायी। विशेषरूप से नेहरू जी ने गत १० वर्षों में धार्मिक अल्प संख्यकों के प्रति भेदभाव के विरुद्ध कानून बनवाये हैं।" चिली के प्रतिनिधि ने कहा—"हाल में मैं भारत गया था। मैंने ऐसा अनुमान किया कि प्रधान मन्त्री नेहरू तथा भारतीय

संसद ने अल्प संख्यकों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाने में उल्लेखनीय कार्य किया है।"

देश की जनसंख्या का एक भाग जो 'हरिजन' कहलाती है अब तक निरक्षरता और अज्ञानता का शिकार बना हुआ था। यह वर्ग सभी अधिकारों से वंचित था। भारत ने अपने इस दलित वर्ग को काफी ऊँचा उठाया है, उन्हें अधिकार दिये हैं, सम्पन्न बनाया है तथा ज्ञान के प्रकाश को फैलाया है।

रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के निमित्त खेती के आधुनिकतम साधनों के प्रयोग पर जोर दिया गया है और दिया जा रहा है। खेती के लिए सभी सुविधायें प्रदान की जा रही हैं। कपड़े के विषय में स्वावलम्बन होने तथा बेकारी दूर करने के लिए खादी-आन्दोलन तथा चर्खा-कताई को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

इन सब के अतिरिक्त शिक्षा के क्षेत्र में भी काफी उन्नति हुई है और हो रही है। निःशुल्क बाल-शिक्षा पर जोर दिया जा रहा है। अनेक पाठशालायें खोली जा रही हैं।

औद्योगिक उन्नति

भारत ने अपना औद्योगिक विकास ऐसे समय में आरम्भ किया जब योरप और एशिया के अधिकांश राष्ट्र अपने विकास की चर्मसीमा पर पहुँच गये हैं। अतः भारत का इन राष्ट्रों से सहायता लेना स्वाभाविक है। भारत ने अपने बहुमुखी विकास के लिये पंच-वर्षीय योजनाओं का सहारा लिया है। इन योजनाओं को सफलीभूत बनाने के लिये पर्याप्त धन की आवश्यकता पड़ी है। भारत की माँग पर विदेशी राष्ट्रों ने अपनी स्थिति के अनुकूल सहायता प्रदान की है और कर रहे हैं। सहायता देने वाले राष्ट्रों में इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा, रूस, जर्मनी, स्विटजरलैण्ड, स्वीडेन, चेकोस्लोवाकिया, जापान आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय औद्योगिक विकास में सबसे अधिक पूँजी ब्रिटेन की लगी है। इस पूँजी का आगमन विशेषतया सन् १९५५ के बाद हुआ। यह पूँजी दो रूप में लगी हुई है। पहला, उद्योगपतियों के साझे में लगी है और दूसरा, ब्रिटेन ने अपने ही कारखाने भारत में खोल दिये हैं। जिन चीजों के लिये ब्रिटेन के साथ भारत का समझौता हुआ है वे इस प्रकार हैं—सायकिल, मोटर सायकिल, ट्रैक्टर, लारी, मोटरकार, रासायनिक पदार्थ, औषधि, मशीनें तथा उनके पुर्जे, रेडियो, विद्युतयन्त्र, इस्पात के बने सामान आदि।

जैसा कहा जा चुका है, ब्रिटेन ने अपने कई कारखाने और कम्पनियाँ भारत में खोले हैं। इस प्रकार की एक कम्पनी (Indian Steel Works Construction Co. Ltd.) दुर्गापुर में खुली है जो एक इस्पात कारखाना खोलने में लगी हुई है जिसका वार्षिक उत्पादन १० लाख टन होगा। ब्रिटिश सहयोग से खुलने वाला दूसरा महत्वपूर्ण कारखाना "भारी विद्युतयन्त्र कारखाना" है जिसका निर्माण भोपाल में हो रहा है। यह कारखाना १९६० तक तैयार हो जायगा। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन की कई कम्पनियाँ भारतीय कम्पनियों को प्राविधिक सहायता दे रही हैं, जैसे कि ब्रिटेन का 'स्टैण्डर्ड टेलीफोन्स एण्ड केबुल्स लिमिटेड कम्पनी, और 'औटोमेटिक टेलीफोन एण्ड इलेक्ट्रिक कम्पनी' बंगाल स्थित 'हिन्दुस्तान केबुल्स लिमिटेड' और बंगलोर स्थित 'इन्डियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज़ लिमिटेड' को क्रमशः प्राविधिक सहायता प्रदान कर रहे हैं।

भारत को अमेरिका से जो सहायता मिल रही है वह 'प्राविधिक सहकारिता मिशन' (टी० सी० एम०) के अन्तर्गत प्राप्त हो रही है। अब तक भारत को अमेरिका से भारी मात्रा में रेल-इंजन, मालगाड़ी के डब्बे, इस्पात आदि मिल चुके हैं। अप्रैल १९५८ में भारत और अमेरिका के बीच एक समझौता हुआ है जिसके अनुसार अमेरिका स्वास्थ, शिक्षा,

कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन से संबंधित अनेक योजनाओं में सहायता प्रदान करेगा।

कनाडा ने गेहूँ देकर भारत की सहायता की है। इसके अतिरिक्त भारी संख्या में भारतीय कनाडा में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

पश्चिमी जर्मनी की सहायता से रूरकेला में इस्पात का एक बड़ा कारखाना खोला गया है। यह भी १० लाख टन वार्षिक क्षमता का इस्पात कारखाना है। जर्मनी की एम० ए० एन० संस्था ने हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड से रेलवे डब्बे बनाने के लिए समझौता किया है। यह संस्था मेरिन इंजिन की भी पूर्ति कर रहा है। इसके अतिरिक्त नई दिल्ली के पास ओखला नामक स्थान पर पश्चिमी जर्मनी की सरकार एक प्रोटो टाइप फैक्टरी खोलने जा रही है।

भारत को रूस की सहायता भी कम नहीं मिली है। मध्य प्रदेश में भिलाई नामक स्थान पर सोवियत संघ एक इस्पात का कारखाना खोलने जा रहा है, जहाँ कच्चे लोहे का उत्पादन होगा। रूस ने भारत को ५० करोड़ रूबल का एक ऋण भी प्रदान किया है जो लिगनाइट योजना में खर्च किया जायगा। यही नहीं, सोवियत संघ ने बिहार के राँची नामक स्थान पर भारी मशीन बनाने का और इलाहाबाद के पास नैनी नामक स्थान पर यन्त्रों में प्रयोग होने वाले शीशे के निर्माण का एक कारखाना खोलने का निश्चय किया है। प्राविधिक शिक्षा क्षेत्र में भी रूस ने काफी सहायता दी है। हजारों भारतीय सोवियत संघ में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। दिसम्बर '५८' में रूस और भारत के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार रूस सरकार ३६ लाख रुपये मूल्य के प्राविधिक शिक्षण उपकरण भारत को देगी और ५० भारतीय इंजीनियरों को रूस में प्रशिक्षित करेगी। इस समझौते के अनुसार रूस प्राध्यापक और अध्यापक भी भारतीय संस्थानों में अध्यापन कार्य के लिये भेजेगा।

ऑस्ट्रेलिया से भी भारत को कम सहायता नही मिली है।

ऑस्ट्रेलिया ने भी काफी मात्रा में गेहूँ, आटा, छोटी लाइन के माल-डब्बे, डिज़ेल रेल के इंजन आदि दिया है। भारतीय आकाशवाणी को ऑस्ट्रेलिया से ट्रान्समीटर तथा अन्य रेडियो यन्त्र प्राप्त हुए हैं।

इसी प्रकार आस्ट्रिया ने वाष्पचालित इंजन, डब्बे, ट्रैक्टर, क्रेन आदि से भारत की सहायता की है। फ्रान्स ने इलेक्ट्रोनिक फैक्टरी की स्थापना में योग दिया है। न्यूज़ीलैण्ड ने 'आल इंडिया मेडिकल इन्स्टीट्यूट' और दिल्ली की दुग्धपूर्ति योजना को आर्थिक सहायता दी है। नार्वे ने भारतीय मत्स्य-योजना को सहायता प्रदान की है। जनवरी '५८ में भारत तथा चेकोस्लोवाकिया के बीच एक ढलाई-कारखाना खोलने पर समझौता हुआ है।

रूस, पूर्वी जर्मनी और पोलैण्ड से भारत का एक व्यापार समझौता दिसम्बर '५८ में सम्पन्न हुआ। उक्त देशों के बीच व्यापार को 'अतिप्रिय-राष्ट्र' का व्यवहार प्राप्त होगा। उभय देशों से भारत आने वाले और भारत से उन देशों को जाने वाले माल का इस प्रकार व्यौरा होगा :—

आयात (रूस से)—औद्योगिक यन्त्र और साधन कच्चा माल, कोयला, खानों के यन्त्र, सिंचाई योजना की चीजें, मशीन, पुर्जे और औजार, तैलीय उत्पादन, फिल्म आदि।

निर्यात (भारत से)—चाय मसालें, खाल, चमड़ा, ऊन, तम्बाकू, सब्जी, मिट्टी का तेल, जूट के तैयार सामान, बोरे, जूते, ऊनी कपड़े, नारियल की जटा के सामान, दस्तकारी के सामान, फिल्म आदि।

आयत (पूर्वी जर्मनी से)—मशीन, पुर्जे, नाप-तौल के यन्त्र, सूती वस्त्र की मशीनें आदि।

निर्यात (भारत से)—चाय, कहवा, सूती वस्त्र, चमड़ा, उद्योग के निर्माण और जनोपयोग सम्बन्धी वस्तुयें आदि।

आयात (पोलैण्ड से)—मशीन, पुर्जा, बिजली के यन्त्र, लोहे के सामान, कोयला, खान-यन्त्र, इस्पात, रासायनिक खाद आदि।

नर्यात (भारत से)—खनिज लौह, चाय, मिर्च, खाल, चमड़ा, बोरे, जूते और नारियल की जटा के सामान, अभ्रक आदि ।

इस समझौते में इन देशों तथा भारत के व्यापार निगमों के बीच सम्बन्ध और व्यापार पुष्ट करने की भी व्यवस्था है ।

जनवरी '५८ में जापान जर्मन जनतांत्रिक गणतंत्र और चेकोस्लोवाकिया का भारत के साथ एक समझौता हुआ जिसके अनुसार उक्त राष्ट्रों ने भारत को बुनाई यन्त्र, परिष्कार यन्त्र, तागा खींचने का यन्त्र, रद्दी रुई कातने का यन्त्र आदि देना स्वीकार किया है ।

इस प्रकार भारत विश्व के प्रगतिशील तथा उन्नत राष्ट्रों से सहायता लेकर अपने औद्योगिक प्रगति में लगा हुआ है । यह भारत की तटस्थ नीति की प्रसंशनीय विजय है ।

परराष्ट्र नीति

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से एक स्वतंत्र एवं शान्तिमय नीति अपना कर भारत ने विदेशों में सर्वाधिक सम्मान प्राप्त किया है । इस प्रकार उसकी परराष्ट्र नीति बहुत सफल रही है ।

"भारत का विश्व के सभी लोगों पर काफी प्रभाव पड़ा है । आज यदि कोई व्यक्ति विश्व के किसी भी भाग में चला जाय तो वह शान्ति के साथ भारत का नाम जुड़ा हुआ अवश्य पायेगा"— (नेहरू)

भारत की परराष्ट्र नीति के आधारभूत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हमारे माननीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने समय-समय पर किया है । २१ दिसम्बर '५८ को अपने एक भाषण में श्री नेहरू ने कहा है—"हम युद्ध से विरत रहने के लिए कृत संकल्प हैं । हमारे देश की ऐसी परम्परा रही है जिससे यह सहिष्णु हो सका और स्वयं हो और दूसरों को रहने देने की नीति अपनायी । इसी से हम सहअस्तित्व तथा पंचशील की बात करते हैं । इसी से हम आसानी से इनका अनुसरण करते है । दूसरो के

लिए यह इतना सरल नहीं। युद्धों से भी जो सफलता नहीं मिलती वह शान्तिपूर्ण उपायों से मिल सकती है।" उक्त भाषण से भारतीय परराष्ट्र-नीति के चार मुख्य सिद्धान्तों का प्रकटीकरण हो जाता है—(१) भारत किसी भी प्रकार के युद्ध से दूर रहना चाहता है, (२) भारत साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोधी है, (३) सहअस्तित्व और पंचशील का कट्टर समर्थक है और (४) शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन करता है।

इसके अतिरिक्त भारत ने जिन उद्देश्यों की पूर्ति पर जोर दिया है, वह इस प्रकार है—(१) भारत शक्ति-गुट से पृथक रहकर अन्तरराष्ट्रीय-समस्याओं पर अपनी नीति का पालन करेगा, शक्ति-गुटों द्वारा संचालित विश्व-सम्मेलनों का निर्णय मानने के लिए भारत बाध्य न होगा, (३) भारत सभी राष्ट्रों के साथ मित्रता का सम्बन्ध रखेगा, (४) भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ, उसके घोषणापत्र तथा उसके द्वारा संयोजित एवं संचालित सभी सम्मेलनों, समितियों और योजनाओं के प्रति आस्था तथा सम्मान रखते हुए पूर्ण समर्थन करेगा और सभी महत्त्वपूर्ण और न्यायपूर्ण कार्यों में सहयोग देगा, (५) भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहकर उसके कार्यों में सहयोग प्रदान करेगा।

भारतीय संविधान में घोषणा की गयी है कि भारत अन्तरराष्ट्रीय-शान्ति एवं सुरक्षा तथा राष्ट्रों के बीच न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता रहेगा। वह अन्तरराष्ट्रीय समझौते एवं सम्मेलनों का सम्मान करेगा तथा अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों को पंच द्वारा निर्णय कराने के कार्य को प्रोत्साहन देगा।

कुछ आलोचकों ने भारत की परराष्ट्र नीति को 'नेहरू-नीति' कहा है, यह ठीक नहीं है। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने इसे गलत कहा है। उन्होंने स्वयं कहा है कि "मैंने तो उस नीति को केवल मुखर किया है, मैं उसका जन्मदाता नहीं हूँ। भारत की परराष्ट्र नीति अर्थात् तटस्थता

की नीति भारत की परिस्थितियों, भारत के प्राचीन दर्शन, भारत के कुल मानसिक दृष्टिकोण, भारतीय स्वातन्त्र-संग्राम के समय प्राप्त अनुभव तथा आज की परिस्थितियों में निहित है।"

युद्ध और भारत

गौतम की जन्मभूमि भारत सदा से एक शान्तिप्रिय राष्ट्र रहा है, शान्ति चाहता रहा है और शान्ति का समर्थन करता रहा है। वह युद्ध से यथासम्भव दूर रहना चाहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह कमजोर है। विश्व के किसी भी भाग में यदि युद्ध छिड़ा तो उसका प्रभाव भारत पर अवश्य पड़ेगा। भारत युद्ध की अपेक्षा शान्ति पर अधिक जोर देता है और समस्याओं का निराकरण युद्ध के माध्यम से नहीं बल्कि शान्ति के माध्यम से करना चाहता है।

पहले और आज के युद्ध में बहुत अन्तर है। नेहरू जी के शब्दों में "पहले युद्ध का अर्थ राज्य बढ़ाना, दौलत बढ़ाना और यश बढ़ाना होता था, लेकिन आज युद्ध से ये सब लाभ नहीं होते।" आज का युग पारमाणविक युग है। इस युग में जो भी युद्ध होगा, चाहे छोटा या बड़ा, वह पारमाणविक युद्ध होगा और उसमें पारमाणविक अस्त्रों का प्रयोग होगा। नेहरू जी के इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि "यदि युद्ध छिड़ा तो इससे केवल सम्पूर्ण सभ्यता का ही विनाश नहीं होगा, बल्कि पूरी मानवता नष्ट हो जायगी।"

इस प्रकार के युद्ध से भी खतरनाक कूटनीतिक युद्ध है। कूटनीतिक युद्ध को दूसरे शब्दों में 'शीत-युद्ध' भी कह सकते हैं। आजकल विश्व के प्रमुख लोग कूटनीतिक युद्ध में अपने मस्तिष्क को परेशान किये हुए हैं। इस युद्ध से राष्ट्रों में भय, क्रोध, घृणा उत्पन्न होता है और लोगों को युद्ध के कगार पर रखता है। यह भय, क्रोध और घृणा किसी भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के लिए लाभप्रद नहीं है। भारत इस युद्ध का भी विरोध करता है और इससे दूर रहना चाहता है।

भारत और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद

भारत साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और रंग-भेद नीति का कट्टर विरोधी है। हमारी इस नीति का विकास अपने कटु अनुभव के फलस्वरूप हुआ है। हम भारतीय भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकार रह चुके हैं और भयानक कष्ट एवं मानसिक पीड़ा का अनुभव कर चुके हैं। हम भलीभाँति जानते हैं कि साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने परतन्त्र देशों एवं उपनिवेशों का शोषण किस प्रकार करते हैं। यही कारण है कि भारत साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करता है। नेहरू जी ने स्वयं कहा है—"संसार में स्थायी शान्ति तभी स्थापित हो सकती है, जब विश्व के समस्त राष्ट्र स्वतन्त्र हो जायँ एवं सभी प्राणियों को स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा प्राप्त हो।"

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हुए, अनेक क्रान्तियाँ हुईं और अनेक उपनिवेशों का तहस-नहस हुआ। इन सभी घटनाओं में भारत ने शान्ति का समर्थन किया है, स्वतन्त्रता की माँग का पक्ष लिया है और उपनिवेशों की समाप्ति पर जोर दिया है। हिन्देशिया के स्वतन्त्रता संघर्ष का भारत ने समर्थन किया था और डच साम्राज्यवाद का विरोध किया था। इसी विरोध में १८ दिसम्बर सन् १९४८ को भारत ने दिल्ली में एशियाई देशों का एक सम्मेलन बुलाया था और यह भारत का ही प्रयास था कि एशियाई देशों ने डच विमानों को अपने देशों से होकर गुजरने की रोक लगा दी। इसी प्रकार की एक दूसरी सभा २० जून सन् १९४९ को दिल्ली में बुलाई गयी जिसके फलस्वरूप डचों को हिन्देशिया छोड़ना पड़ा। हिन्देशिया के प्रधान मन्त्री डाक्टर अली शस्त्रोमिजोयो ने कहा था कि "भारत ने हमारे स्वाधीनता के संघर्ष में जो पूर्ण तथा हार्दिक समर्थन किया है, वह हिन्देशिया की आज़ादी के संघर्ष के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा।" इसके अतिरिक्त सूडान, मोरक्को, ट्यूनिशिया, लीबिया,

घाना आदि देशों की स्वतन्त्रता में भी भारत ने पर्याप्त योग दिया है।

स्वेज़-नहर के प्रश्न पर मिश्र पर जब इंग्लैण्ड, फ्रान्स और इसराइल ने आक्रमण शुरू किया, इराक के सैनिक-क्रान्ति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अमेरिका और ब्रिटेन ने जब अपनी सेनायें लेबनान और जार्डन में उतारा, तब भारत ने उनका खुलकर विरोध किया। इस पर मिश्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने कहा था कि "पेलेस्टाइन, लीबिया, ट्यूनीशिया और मोरक्को तथा अन्य सैकड़ों उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि भारत साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाली हर एक लड़ाई और आजादी के प्रयास के लिए अपना बहुमूल्य समर्थन देने को तत्पर रहता है।"

यही नहीं, जब ईरान की सरकार ने तेल उद्योग का राष्ट्रीकरण करने का प्रस्ताव पास किया, उस समय भारत का ब्रिटेन के साथ अच्छा सम्बन्ध था। इसका विचार न करके भारत ने ईरान के कार्य का समर्थन किया।

इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका में अपनाये जाने वाली रंग-भेद नीति का भारत ने बराबर विरोध किया है। ६ दिसम्बर '५८ को श्री नेहरू ने कहा था—"मुझे आश्चर्य है कि वे बड़े राष्ट्र, जिन्होंने राष्ट्र संघ के घोषणापत्र तथा मानव अधिकार कारारनामे के समर्थन में वोट दिया, दक्षिणी अफ्रीका संघ की रंग-भेद नीति के विरुद्ध बोलते तक नहीं। यह नीति का प्रश्न नहीं। मैं तो कहता हूँ कि यह घोर अनैतिकता है। किसी राष्ट्र का इस प्रकार का व्यवहार अन्तरराष्ट्रीय अनैतिकता है।" विश्व के इस भूभाग में नव-जागरण का श्रेय भारत को ही है। महात्मा गांधी ने अपने प्रभावकारी सत्याग्रह-अस्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग यहीं किया था। यहाँ के लोगों में काफी जाग्रति पैदा हो गयी है। कुछ राष्ट्र स्वतन्त्र हो गये हैं, कुछ होने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

भारत और पंचशील

जैसा की पहले कहा जा चुका है, पंचशील का जन्म भारत और चीन के सहयोग से हुआ है। पंचशील के अन्तर्गत पाँच मुख्य सिद्धान्त आते हैं—

(१) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना।

(२) एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक कार्रवाई न करना।

(३) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।

(४) समानता तथा परस्पर लाभ की नीति का पालन करना, और

(५) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्त्व की नीति का पालन करना है।

श्री नेहरू के पंचशील सिद्धान्त का सम्मान अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में अत्यधिक बढ़ गया है। अप्रैल सन् १९५५ में एशियाई राष्ट्रों की जो सभा हुई थी, उसमें पंचशील को अधिकांश राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त हुआ था। आज का विश्व पंचशील का अनुकरण कर रहा है।

बहुत से लोग हमारी स्वतन्त्र नीति को तटस्थता की नीति समझते हैं। ऐसा समझना निमूर्ल है। हमारी स्वतन्त्र नीति का अर्थ है कि हम दोनों गुटों से पृथक रहेगें लेकिन न्याय और प्रजातन्त्र का पक्ष लेगें। श्री नेहरू ने अमेरिका के दौरे में कहा भी था कि "जहाँ आज़ादी खतरे में हो, न्याय का गला घोंटा जा रहा हो, जहाँ दूसरों पर हमला हो रहा हो, वहाँ हम अलग खड़े नहीं रह सकेंगे।"

भारत और सैनिक-सन्धि

आजकल एक कूटनीतिक बीमारी चल पड़ी है, वह है सैनिक-सन्धि की। अधिकांश राष्ट्र किसी-न-किसी सैनिक-सन्धि के सदस्य हैं। कोई 'सीटो' का सदस्य है, कोई 'नाटो' का, कोई 'बगदाद समझौते' का सदस्य है। कोई राष्ट्र इस प्रकार की सन्धियों को सुरक्षा का माध्यम

समझता है, कोई साम्यवाद के प्रसार का अवरोध समझता है, कोई राष्ट्र इन सन्धियों द्वारा अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाना चाहता है और कोई इसे मित्रता करने का एक नया तरीका समझता है। लेकिन ये सब कल्पनायें तथा विचार गलत हैं। इससे न तो देश सुरक्षित रह सकती है, न वास्तविक मित्रता ही स्थापित हो सकती है। सेना अथवा शक्ति के आधार पर कोई स्थायी कार्य न हुआ है और न हो सकता है। भारत इन सन्धियों में विश्वास नहीं करता, वह इन सैनिक-सन्धियों का कट्टर विरोधी है। भारत मैत्री को ही सबसे उत्तम सुरक्षा मानता है। नेहरू जी के शब्दों में "विचारों का मुकाबला विचारों द्वारा किया जा सकता है।" विचारों का मुकाबला सैनिक-सन्धि द्वारा नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि विभिन्न देशों से प्रलोभन मिलने पर भी भारत ने किसी भी सैनिक-सन्धि को स्वीकार नहीं किया है। वह किसी गुट का पक्ष लेना नहीं चाहता। भारत न तो रूसी गुट में सम्मिलित होना चाहता है और न आँग्ल-अमेरिकन गुट के साथ गठबन्धन करना चाहता है। वह दोनों की स्वार्थपूर्ण नीतियों से अलग रहकर अपनी नीति का स्वतन्त्र विकास करना चाहता है। नेहरू जी ने स्वयं कहा है—"आज विश्व दो शक्ति गुटों में विभाजित है—एक आँग्ल अमेरिकी गुट तथा दूसरा सोवियत रूस का गुट। पर भारत इसमें से किसी 'दल' से अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहता। वह भ्रातृत्व चाहता है, मैत्री चाहता है और चाहता है मानव समाज की स्वतन्त्रता।"

भारत और राष्ट्रमण्डल

भारत राष्ट्रमण्डल का एक प्रमुख सदस्य है। लेकिन स्वेज-संकट से ही राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद करने की चर्चा भारत में चली आ रही है। स्वेज-संकट के समय ब्रिटेन तथा उसके मित्र राष्ट्रों ने जिस बर्बरता तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन किया उससे ब्रिटेन की प्रतिष्ठा भारतीयों की दृष्टि में काफी गिर गयी है। उस समय अनेक पार्टियों

तथा विवेकशील व्यक्तियों ने राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध तोड़ने की भारत सरकार से अपील भी की थी।

भारत के स्वतंत्र होने के साथ ही पाकिस्तान द्वारा शत्रुता बर्तने तथा भारत के अनेक आर्थिक हित ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल के साथ सम्बद्ध होने के कारण प्रधान मन्त्री नेहरू ने राष्ट्रमण्डल से अलग होना उचित नहीं समझा। भारत के आर्थिक पावने की एक बड़ी रकम ब्रिटेन के पास फँसी होने के कारण तथा भारत के नव-निर्माण के लिए ब्रिटेन से सहायता और सहयोग मिलने की आशा से भारत सरकार ने ब्रिटेन के साथ अच्छा सम्बन्ध बनाये रखना ही उचित समझा है। भारत को पहले से यह आशंका थी कि यदि भारत ने राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्याग दी, तो ब्रिटेन खुलकर पाकिस्तान का समर्थन करेगा जिससे भारत के लिए संकट की स्थिति पैदा हो जायगी। स्वेज़ और काश्मीर के मामलों में ब्रिटेन ने जो रुख अपनाया, उससे इस आशंका का समाधान भी हो गया। राष्ट्र-मण्डल का सदस्य बने रहने पर भी राष्ट्रमण्डल के सदस्यों से भारत को सहायता मिलने की बात तो दूर रही, न्याय तक नहीं मिला। काश्मीर में राष्ट्र संघीय सेना भेजने के बारे में ब्रिटेन ने जो उतावलापन दिखलाया वह किसी से छिपा नहीं है। गिलगिट को पाकिस्तान में मिलाने में ब्रिटेन का क्या षड़यन्त्र रहा, यह ब्रिगेडियर घसारा सिंह के वक्तव्य से पुष्ट हो जाता है। प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने स्वयं ब्रिगेडियर घसारा सिंह के वक्तव्य की पुष्टि करते हुए बताया है कि जब गिलगिट काश्मीर को दिया जाना तय हुआ तो ब्रिगेडियर घसारा सिंह को चार्ज लेने के लिए भेजा गया। वहाँ पर घसारा सिंह को ब्रिटिश अफसरों ने गिरफ्तार कर लिया और गिलगिट को पाकिस्तान में शामिल घोषित कर दिया। इन सब बातों से ब्रिटेन की भारत के प्रति जो नीयत है, साफ हो जाता है। अमेरिकी रुख व नीयत से भी हमें सावधान रहना है। अमेरिका ने पाकिस्तान को हर मामले में सहायता देने का आश्वासन दिया है। हाल में अमेरिका ने

पाकिस्तान को आणविक अस्त्रों के दिये जाने का आश्वासन दिया है। साथ ही पाकिस्तान में आणविक युद्ध की ट्रेनिंग भी दी जाने की बात कही जा रही है। इन सब बातों से भारत को सशंक रहना अति स्वाभाविक है। भारत, ब्रिटेन और अमेरिका के प्रति कैसा रुख अपनायेगा, यह इन देशों के भविष्य के रुख तथा भविष्य में विश्व की स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ

भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख सदस्य है। राष्ट्रसंघ द्वारा किये गये सभी कार्यों तथा सम्मेलनों में भारत ने सक्रिय भाग लिया है जिससे इसकी ख्याति एक स्वतंत्र, निष्पक्ष और स्वार्थहीन राष्ट्र के रूप में अधिक हो गयी है। भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ की जिन समितियों अथवा परिषदों का सदस्य है, वे निम्नलिखित हैं :—

(१) संयुक्त राष्ट्र महासभा।

(२) महासभा की अन्तरिम समिति।

(३) न्याय परिषद्।

(४) संयुक्त राष्ट्र कमीशन और समितियाँ—

क—अणुशक्ति के शांतिपूर्ण उपयोगों की सलाहकार समिति।

ख—संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के पुनरावलोकनार्थ महा सम्मेलन आयोजित करने के प्रश्न पर विचार करने वाली समिति।

ग—अस्वशासित प्रदेशों की सूचना समिति।

घ—शांति वीक्षण आयोग।

ङ—अणु-विकिरण के प्रभावों की वैज्ञानिक समिति।

च—हथियार-परिहार आयोग।

छ—विशेष आयोजना कोष का तैयारी आयोग।

(५) आर्थिक और सामाजिक परिषद् के कार्यकारी आयोग—

क—मानव अधिकार आयोग।

ख—अन्तरराष्ट्रीय सामग्री-व्यापार आयोग।

ग—नशीली वस्तु आयोग।

घ—आँकड़ा आयोग।

(६) एशिया और सुदूरपूर्व के लिए संयुक्त राष्ट्र आर्थिक आयोग (इकाफे)

(७) संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट एजेंसियाँ—

क—अन्न और कृषि संघ।

ख—तटकर और व्यापार सम्बन्धी सामान्य करार।

ग—अन्तरराष्ट्रीय विकास और पुनर्निर्माण के लिए बैंक।

घ—अन्तरराष्ट्रीय नगर उड्डयन संघ।

ङ—अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर संघ।

च—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रानिधि।

छ—अन्तरराष्ट्रीय दूर-संचार संघ।

ज—संयुक्त राष्ट्र विद्या विज्ञान और संस्कृत संघ।

झ—सार्वदेशिक डाक संघ।

ञ—विश्व स्वास्थ्य संघ।

ट—विश्व ऋतु-विज्ञान संघ।

(८) संयुक्तराष्ट्र बाल-कोष कार्य संचालक बोर्ड।

(९) तकनी की सहायता समिति।

(१०) एशियाई विधि परामर्श दात्री समिति।

(११) पुल और निर्माण मूलक इंजीनियरी की अन्तरराष्ट्रीय संस्था, ज्यूरिख।

(१२) अन्तरराष्ट्रीय सिंचाई और जल-निकासी आयोग, पेरिस।

(१३) अन्तरराष्ट्रीय विशाल बाँध आयोग, पेरिस।

(१४) अन्तरराष्ट्रीय रेडक्रास समिति, जनेवा।

(१५) अन्तरराष्ट्रीय समाजकार्य सम्मेलन, पेरिस।

(१६) अन्तरराष्ट्रीय कपास सलाहकार समिति, वाशिंगटन ।
(१७) अन्तरराष्ट्रीय अभिलेख-परिषद्, पेरिस ।
(१८) अन्तरराष्ट्रीय भवन-अनुसन्धान और प्रलेख परिषद्, पेरिस ।
(१९) अन्तरराष्ट्रीय विमान संघ परिषद्, लंदन ।
(२०) अन्तरराष्ट्रीय अपराधी पुलिस आयोग, पेरिस ।
(२१) अन्तरराष्ट्रीय सीमा-शुल्क एवं तटकर कार्यालय, ब्रुसेल्स ।
(२२) अन्तरराष्ट्रीय बिजली तकनी की आयोग, जनेवा ।
(२३) अन्तरराष्ट्रीय प्रलेख फेडरेशन, द हेग ।
(२४) अन्तरराष्ट्रीय आवास और नगर-आयोजन फेडरेशन, द हेग ।
(२५) अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय महिला फेडरेशन, लंदन ।
(२६) अन्तरराष्ट्रीय हाइड्रोग्राफिक ब्यूरो, मांटे कार्लो ।
(२७) अन्तरराष्ट्रीय अस्पताल फेडरेशन, लंदन ।
(२८) अन्तरराष्ट्रीय प्रशासन-विज्ञान संस्थान, ब्रुसेल्स ।
(२९) अन्तरराष्ट्रीय अधिकारिक यात्री संघटनों के अन्तरराष्ट्रीय संघ का वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थान, जनेवा ।
(३०) अन्तरराष्ट्रीय निजी विधि एकीकरण संस्थान, रोम ।
(३१) अन्तरराष्ट्रीय सामग्री सम्मेलन, वाशिंगटन ।
(३२) अन्तरराष्ट्रीय वैधऋतु-विज्ञान संघ, पेरिस ।
(३३) अन्तरराष्ट्रीय मानवी करण संघ, जनेवा ।
(३४) अन्तरराष्ट्रीय रेल कांग्रेस मण्डल, ब्रुसेल्स ।
(३५) अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक रेडियो संघ, पेरिस ।
(३६) अन्तरराष्ट्रीय चाय-समिति लंदन ।
(३७) अन्तरराष्ट्रीय टीन अध्ययन गोष्ठी, द हेग ।
(३८) अन्तरराष्ट्रीय उड्डयन बीमाकार संघ, लंदन ।
(३९) अन्तरराष्ट्रीय वनस्पति विज्ञान संघ, पेरिस ।
(४०) अन्तरराष्ट्रीय स्फट-विज्ञान संघ, केम्ब्रिज ।

(४१) अन्तरराष्ट्रीय ज्यामिति और भू-भौतिकी संघ, पेरिस।
(४२) अन्तरराष्ट्रीय भूगोल संघ, न्यूयार्क।
(४३) अन्तरराष्ट्रीय विज्ञान-इतिहास संघ, पेरिस।
(४४) अन्तरराष्ट्रीय आधिकारिक यात्रा संघटन संघ, जनेवा।
(४५) अन्तरराष्ट्रीय शुद्ध और व्यावहारिक-रसायन विज्ञान संघ, पेरिस।
(४६) अन्तरराष्ट्रीय युद्ध और व्यावहारिक भौतिक विज्ञान संघ, पेरिस।
(४७) अन्तरराष्ट्रीय सैद्धान्तिक और व्यावहारिक यन्त्र-विज्ञान-संघ डैल्फ।
(४८) नौवहन कांग्रेस की स्थायी अन्तरराष्ट्रीय संस्था, ब्रुसेल्स।
(४९) सड़क कांग्रेस की स्थायी अन्तरराष्ट्रीय संस्था, पेरिस।
(५०) कैसर केन्द्रों का अन्तरराष्ट्रीय संघ, पेरिस।
(५१) अनुभव-वृद्धो का विश्व संघ।
(५२) विश्व कुक्कुट-पालन विज्ञान संस्था।
(५३) अन्तरराष्ट्रीय न्यायिक कांग्रेस।

यही नहीं, भारतीयों को संयुक्त राष्ट्र संघ की विभिन्न कमेटियों में बहुत से सम्मानित पद प्राप्त हो चुके हैं। स्व० श्री बेनगल राम राव अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के अध्यक्ष रह चुके थे। उप-राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णनन यूनेस्को (U. N. E. S. C. O.) की कार्य-समिति बोर्ड के अध्यक्ष रह चुके हैं।

यही यहीं, हमारे रेल मन्त्री (भूतपूर्व श्रम मन्त्री) श्री जगजीवन राम जी अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के ३३वें अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये थे।

श्री चिन्तामणि देशमुख अन्तरराष्ट्रीय मानिटरी-फण्ड के प्रेसीडेन्ट रह चुके हैं।

श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित संयुक्त राष्ट्रसंघ की साधारण सभा के ८वें अधिवेशन की अध्यक्षा चुनी गयी थीं। यह प्रथम महिला थीं जिनको यह सम्मानित पद प्राप्त हुआ था।

सन् १९५५ में अणुशक्ति के शांतिपूर्ण प्रयोग के लिए जो अन्तरराष्ट्रीय सभा हुई थी, उसके अध्यक्ष श्री भाभा थे।

११ जनवरी '५९ को सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व विचारपति श्री विवियन बसु अन्तरराष्ट्रीय न्यायिक आयोग के अध्यक्ष चुने गये। इसके पूर्व वह आयोग के उपाध्यक्ष रह चुके थे।

इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ की कई समितियों की बैठक भारत में हो चुकी है। सन् १९५७ में भारत में अन्तरराष्ट्रीय महत्व के कई सम्मेलन हुए, जिनमें १४वाँ अन्तरराष्ट्रीय क्षय सम्मेलन, विश्व-श्रम संघटन का एशिया क्षेत्रीय सम्मेलन, अन्तरराष्ट्रीय रेडक्रास सम्मेलन, राष्ट्रमण्डल संसदीय सम्मेलन और एशियाई विधि सम्मेलन मुख्य हैं। सन् १९५७ में ही दिल्ली में अन्तरराष्ट्रीय बैंक का अधिवेशन हुआ था। तत्पश्चात् वाराणसी में विश्व शाकाहारी सम्मेलन हुआ।

इस तरह भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रत्येक कार्य में सहयोग प्रदान कर रहा है। हमारी शांतिप्रिय, स्वतन्त्र और गुट-रहित परराष्ट्र नीति का ही फल है कि आज भारत की गणना विश्व की महान् एवं शांतिप्रिय शक्तियों में की जा रही है और प्रत्येक कार्य में उसका सहयोग, मत और सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

भारत और पाकिस्तान

दुर्भाग्य की बात है कि भारत का अपने पड़ोसी राष्ट्र पाकिस्तान के साथ, जो सन् १९४७ के पूर्व अखण्ड भारतवर्ष का ही भाग था, अच्छा संबंध नहीं है। इसमें भारत का कोई दोष नहीं है। अपने वादे के अनुसार भारत अपनी सभी शर्तों को पूरा करता रहा है। दोष है शासन-प्रणाली

का। भारत में प्रजातन्त्र है, पाकिस्तान में एक व्यक्तीय शासन है। पाकिस्तान में शासक की कुशलता अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए जनता को देश की समस्याओं में फँसा रखने में ही निर्भर करता है। यही कारण है कि उत्तेजित भाषण दिये जाते हैं, जेहाद का नारा लगाया जाता है और नयी समस्याओं को जन्म दिया जाता है। ऐसे तो, नहर और काश्मीर को ही लेकर भारत और पाकिस्तान में मतभेद है। पाकिस्तान का आरोप है कि भारत सतलज और व्यास नदियों से अधिक पानी लेता है और उसकी नहर-योजना में आर्थिक सहायता नहीं देता। भारत इन आरोपों का खंडन करता है और पूर्व समझौते के अनुसार ही पानी लेता है। काश्मीर की स्थिति तो बिलकुल स्पष्ट हो चुकी है, लेकिन पाकिस्तान उस पर अपना दावा दिखलाता है। वह काश्मीर में अब जनमत-गणना कराना चाहता है। सन् १९५७ में जब भारत ने जनमत-गणना का प्रस्ताव रखा था, उस समय पाकिस्तान ने प्रस्ताव को ठुकरा दिया था लेकिन अब, जब पाकिस्तान कई सैनिक-सन्धियों का सदस्य बन चुका है और अत्यधिक मात्रा में अमेरिकी शस्त्रों को मँगा चुका है, जनमत गणना कराना चाहता है। भारत इस जनमत गणना के पक्ष में अब नहीं है। स्थिति बिलकुल बदल गयी है। काश्मीर विधिवत् भारत का एक अंग बन चुका है। २१ दिसम्बर '५८ को काश्नीर के मुख्य मन्त्री बख्शी गुलाम मुहम्मद ने 'कश्मीर महोत्सव' का शुभारम्भ करते हुए कहा है—"काश्मीरियों का आज पक्ष स्पष्ट है। चाहे वह किसी धर्म का या किसी दल का क्यों न हो, वह अपने को सर्वप्रथम भारतीय मानता है। दूसरी बातें उसके समक्ष बाद की हैं।"

इसके अतिरिक्त पाकिस्तानी सेना द्वारा सीमा उल्लंघन की कई अप्रिय घटनायें घटी हैं जिससे भारत बहुत चिन्तित रहता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि पाकिस्तानी सेनायें भारतीय सीमा के अन्दर घुस जाती हैं और निकटवर्ती गाँवों में लूटपाट कर चली जाती हैं। इसका भारत बराबर विरोध करता रहा है। दिसम्बर '५८ में भारतीय क्षेत्र के कद्दार

ज़िले के सीमावर्ती गाँवों पर पाकिस्तानी सेना ने गोलियाँ चलायीं। जनवरी '५६ में इसी प्रकार की अप्रिय घटना पथरिया के सुरक्षित जंगल की इटतकीतिल्ला की भारतीय चौकी पर हुई। इन सब घटनाओं से दोनों देशों के बीच अच्छा संबंध स्थापित होने में रुकावट पड़ रही है।

प्रगति के पथ पर भारत

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत दिन प्रतिदिन उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। एक ओर भारत योजनायें बनाकर विदेशी सहायता से औद्योगिक क्रान्ति पैदा करना चाहता है, जिससे जीवन-स्तर ऊँचा हो सके, बेकारी दूर हो जाय और अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर न होना पड़े और दूसरी ओर वह एक स्वतन्त्र परराष्ट्र नीति अपनाकर शांति, न्याय और स्वतन्त्रता की रक्षा कर रहा है।

१० जनवरी '५६ को ६४ वें कांग्रेस अधिवेशन में भारतीय पर राष्ट्र नीति के सुपरिणामों पर प्रकाश डालते हुए केन्द्रीय गृह मन्त्री श्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने कहा है—"भारत की नीति विश्व की तनातनी घटाने में सफल रही है और कोरिया, हिन्द्चीन तथा हाल में ही लेबनान में इस नीति के कारण ही लड़ाई खत्म हुई है। अधिक नहीं तो यह तो कहना ही पड़ेगा कि आग पर पानी छोड़ने के काम में वह (राष्ट्रीय नीति) सहायक रही है।"

पाकिस्तान

एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान का जन्म १५ अगस्त सन् १६४७ को हुआ। यह भाग सन् १६४७ के पूर्व भारत का ही एक अंग था।

जन्म से ही पाकिस्तान के शासन में अस्थिरता और व्यक्तिगत् प्रभाव का बोलबाला रहा है। सन् १६४७ से अब तक सात बार मन्त्रिमंडल बना और उनका विघटन हुआ, जो इस प्रकार है—

पहला, लियाक़त अली खाँ, २७ जुलाई '४७ से १६ अक्टूबर '५१ तक।

दूसरा, ख्वाजा नाज़िमुद्दीन, १७ अक्टूबर '५१ से १६ अप्रैल '५३ तक।

तीसरा, मुहम्मद अली, १७ अप्रैल '५३ से ७ अगस्त '५५ तक।

चौथा, चौधरी मुहम्मद अली, १२ अगस्त '५५ से ८ सितम्बर '५६ तक।

पाँचवा, हसन शहीद सुहरावर्दी, १२ सितम्बर '५६ से ११ अक्टूबर '५७ तक।

छठाँ, चुन्द्रीगर, १६ अक्टूबर '५७ से ११ दिसम्बर '५७ तक।

सातवा, मलिक फीरोज़ खाँ नून, १६ दिसम्बर '५७ से ७ अक्टूबर '५८ तक।

इस समय पाकिस्तान में सैनिक-शासन है और उसके प्रधान जनरल अयूब खाँ हैं। पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल अयूब खाँ को 'सैनिक-शासन' शब्द अप्रिय लगता है। अतः 'सैनिक-शासन' के स्थान पर 'कानून का शासन' कहना उन्हे अधिक अच्छा लगता है। उनके शब्दों में "हम लोग (अर्थात् पाकिस्तान के लोग) कानून के राज्य में रह रहे हैं।"

भारतीय संविधान में जहाँ भारत को एक लोकतन्त्रात्मक और निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है, वहाँ पाकिस्तानी संविधान में लिखा गया है कि पाकिस्तान संघीय गणतन्त्र होगा और इसका नाम होगा 'पाकिस्तान इस्लामी गणराज्य'। आज के युग में धर्म को राजनीति के साथ मिश्रित नहीं किया जाता है। उसे स्वतन्त्र रखा जाता है। प्राचीन काल के धार्मिक युद्धों के युग का अब अन्त हो चुका है। मानव धार्मिक-बन्धनों तथा रुकावटों को तोड़ अन्तरराष्ट्रीयता की ओर बढ़ रहा है। उसके दृष्टि की परिधि बढ़ती जा रही है। धर्म के आधार पर न कोई

देश टिका है और न टिक सकता है। अपने को एक इस्लामी गणराज्य घोषित कर पाकिस्तान ने अदूरदर्शिता का परिचय दिया है।

पाकिस्तान भले ही अपने को गणराज्य कहने का दुस्साहस करे लेकिन वास्तव में वहाँ गणतन्त्र की स्थापना अब तक हुई ही नहीं। जितने मन्त्रिमण्डल बने, उन पर प्रधान मन्त्री का ही प्रभाव रहता था और उन्हीं की इच्छा पर सभी कार्य होते थे। मन्त्रिमण्डल का टिकना प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व एवं प्रभाव पर निर्भर था। पाकिस्तान में महत्त्वाकांक्षी लोगों में बराबर होड़ लगी रहती है। इसी होड़ का परिणाम है कि जनरल इस्कन्दर मिर्जा जैसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को राष्ट्रपति के पद को त्यागकर ब्रिटेन में शरण लेनी पड़ी और जनरल अयूब खाँ के हाथों पाकिस्तान का शासन सत्ता सौंपना पड़ा।

व्यक्तिगत संघर्ष में जनता के हित की सदा उपेक्षा रही है। पाकिस्तान अपने ग्यारह वर्षों में उतना उन्नति नहीं कर सका जितना भारत ने किया है। भारत की भाँति पाकिस्तान ने भी विदेशों से औद्योगिक विकास के लिए सहायता ली है। लेकिन उसका उचित उपयोग नहीं कर सका है। मन्त्रिमण्डल के बनने और बिगड़ने का यह भी एक कारण है।

पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं है। पाकिस्तान जब अपने को एक इस्लामी राज्य घोषित करता है तो अन्य धर्मावलम्बियों की सुरक्षा कैसे हो सकती है? भारत-विभाजन के बाद से लाखों की संख्या में हिन्दू पाकिस्तान से भारत आये और भारत में बस गये, यहाँ तक कि बहुत से मुसलमान जिन्होंने पाकिस्तान में बसने की इच्छा प्रकट की थी, पाकिस्तान जाकर भारत लौट आये।

पाकिस्तान की परराष्ट्र नीति स्वतन्त्र होते हुए भी पश्चिमी राष्ट्रों की ओर अधिक झुकी हुई है। पाकिस्तान कोई ऐसी नीति नहीं अपनाता जो पश्चिमी राष्ट्रों के लिए अप्रिय हो। वह पंचशील का विरोधी है।

वह बगदाद-सन्धि और सीटो का एक प्रमुख सदस्य है। उसने अमेरिका से भारी मात्रा में सैनिक सहायता ली है। सैनिक सन्धि और सहायता में वह विश्वशांति की झलक पाता है।

शांति की स्थापना में पाकिस्तान का योग बहुत ही कम रहा है। भारतीय सेना ने तो कोरिया, वितनाम, गाज़ा आदि स्थानों में जाकर अशान्ति की धधकती ज्वाला को बुझाई है, लेकिन पाकिस्तान की सेना शायद ही कहीं भेजी गयी हो। ऐसे तो भारत की भाँति पाकिस्तान भी अनेक अन्तरराष्ट्रीय समितियों का सदस्य है, लेकिन जहाँ स्वतन्त्रता, न्याय और शांति की चर्चा होती है; वहाँ भारत का नाम पहले लिया जाता है, बाद में पाकिस्तान का है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कुछ प्रश्नों को लेकर पाकिस्तान का भारत के साथ अच्छा सम्बन्ध नहीं है। आशा की जाती है कि "एक समय ऐसा आयेगा जब भारत और पाकिस्तान घनिष्ठ मैत्री और सहयोग से रहेगें।" (नेहरू)

अध्याय ११

स्पुटनिक

(Sputnik)

इस भूभौतिक युग में रूस द्वारा अंतरिक्ष में उपग्रह छोड़ने के साथ-ही-साथ मानव-संस्कृति में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ है। "स्पुटनिक" शब्द रूसी है जिसका अर्थ 'सहयात्री' है। सन् १६४५ से परमाणु-युग आरम्भ हुआ, इसके सात साल बाद सन् १६५२ में हाइड्रोजन-युग शुरू हुआ; और फिर पाँच साल बाद कृत्रिम उपग्रह या 'बालचन्द्र' पृथ्वी का चक्कर लगाने लगा।

अमेरिका और रूस ने अंतरिक्ष के वातावरण तथा विविध रश्मियों के प्रभावों की जानकारी प्राप्त करने के हेतु आकाश में कृत्रिम उपग्रह छोड़ने की घोषणा की थी जिसके अनुसार रूस ने सर्वप्रथम, यह कृत्रिम उपग्रह ४ अक्तूबर सन् १६५७ को अंतरिक्ष में सफलतापूर्वक छोड़ कर ब्रह्माण्ड-यात्रा के अपने स्वप्न के पहले चरण को साकार रूप दिया। प्रथम रूसी स्पुटनिक जब अंतरिक्ष में छोड़ा गया था, उस समय उसकी ऊँचाई ५८० मील थी, जो ९६·२ मिनट में एक बार पृथ्वी का परिक्रमा कर लेता था। यह दूरी क्रमशः घटती जाती थी। यहाँ तक कि इसकी दूरी ३० दिसम्बर '५७ को केवल १९८ मील ही रह गई थी। इस उपग्रह में एक स्टील-रेडियो ट्रांसमीटर लगाया गया था जो बराबर ही संकेत दे रहा था जो कुछ दिनों पश्चात् स्पष्ट हो गया। यह गोलाकार उपग्रह २३ इंच व्यास का था जो दूरबीन से देखा जा सकता था। रूसी वैज्ञानिकों का कथन था कि घने वातावरण में प्रविष्ट करते ही स्पुटनिक

जलकर नष्ट हो जायगा। १ जनवरी सन् १९५८ को प्रथम स्पुटनिक के गिरकर आस्ट्रेलिया में नष्ट हो जाने का समाचार प्राप्त हुआ।

३ नवम्बर सन् १९५७ को रूस ने दूसरा उपग्रह छोड़ा जिसके एक निर्यात मंजूषा में प्रयोग के लिये एक कुत्ता 'लायका' रख दिया गया था। यह मंजूषा शीत-ताप नियंत्रित था और उसमें कुत्ते के लिये खाने की सामग्री तथा अंतरिक्ष में उसके जीवन-यापन की अवस्था अंकित करने वाला यन्त्र भी था। इस उपग्रह में समाचार देने वाले दो रेडियो ट्रांसमीटर भी थे। यह उपग्रह लगभग आधे टन का था जो पहले उपग्रह से करीब ६ गुना भारी था। इस उपग्रह में शार्टवेव, अल्ट्रा, वायलेट और रायटजेन किरणों के अध्ययनार्थ औजार रखे गये थे। कुछ दिनों तक कुत्ते के जीवित रहने का समाचार मिलता रहा जो बाद में बन्द हो गया। लोगों के कथनानुसार कुत्ते की मृत्यु हो गयी।

रूस का सबसे महत्वपूर्ण चमत्कार कृत्रिम ग्रह 'ल्युनिक' का छोड़ा जाना है। यह मानव निर्मित ग्रह २ जनवरी सन् १९५९ को रूस द्वारा छोड़ा गया था। इसमें चार चरण हैं जिसका वजन लगभग ४० मन है। पहले तो इसकी गति १५००० मील प्रति घंटा थी। तत्पश्चात् यह गति २५००० मील प्रति घंटा हो गयी। ४ जनवरी '५९ को यह राकेट चन्द्रमा से अपनी निकटतम दूरी ४६६० मील तक पहुँच गया। इसके बाद यह ग्रह आगे बढ़ा और ७ जनवरी '५९ को यह मानव निर्मित ग्रह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने लगा। अब तक केवल नौ ग्रह—बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, वरुण, वारुणि और यम सूर्य की परिक्रमा कर रहे थे। इस परिवार में 'ल्यूनिक' के सम्मिलित हो जाने से सूर्यमण्डल के ग्रहों की संख्या ९ से बढ़कर १० हो गई। इसका स्थान पृथ्वी और मंगल के बीच में है। जब जब यह राकेट सूर्य के करीब होता जायगा, इसका वेग अधिक होता जायगा। सूर्य से दूर होने पर इसका वेग कम होता जायगा। उपग्रहो की भाँति इस राकेट में भी ऐसे यन्त्र

रखे गये हैं जो अन्तरिक्ष के बारे में तरह-तरह की अधिक-से-अधिक जानकारी दे सकें।

रूस के प्रमुख वैज्ञानिक प्रोफेसर अनातोली ब्लैगोंरावोव ने यह घोषणा की है कि "रूस ने अंतरिक्ष में भेजे जाने वाले प्रथम मानव का प्रशिक्षण आरम्भ कर दिया है। इस व्यक्ति का नाम श्री इवानइगोरस्की है जो ३० वर्षीय, कुँवारा, ६ फुट २ इंच ऊँचा और २ मन ८ सेर वजन का है।" आपने यह भी घोषित किया है कि रूस ने मानव युक्त अग्निवाण शुक्र, मंगल और सम्भवतः चन्द्रलोक में भी इस वर्ष सितम्बर में भेजने की आयोजना की है। हम लोगों को अब अभ्यास या परीक्षण करने की जरूरत नहीं रह गयी है। परीक्षण आदि के लिए जो कुछ जरूरी था वह सब कुछ हम लोग कर-करा चुके हैं। अब तो जून महीने में शुक्र ग्रह पर अग्निवाण उतार देने की तैयारी हो रही है।

विज्ञान की प्रगति में अमेरिका कब पीछे रह सकता है। १७ दिसम्बर सन् १९५७ को उसने अपना पहला एटलस उपग्रह छोड़ा। १० जनवरी सन् १९५८ को एक प्रक्षेप्यास्त्र छोड़ने में उसे सहायता मिली। १८ दिसम्बर '५८ को ८८०० पौंड का एटलस उपग्रह छोड़ने में अमेरिका को अधिक सफलता मिली। इतना सब होने पर भी अभी क्षेप्यास्त्रों की सफलता में रूस से अमेरिका पीछे ही है। अमेरिकी वैज्ञानिकों के अनुसार अमेरिका को रूस की बराबरी करने के लिए दो वर्ष लगेंगे।

अमेरिका और रूस के शीतयुद्ध की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप ही स्पुटनिक इतनी जल्द बन सकी। कृत्रिम उपग्रह छोड़ने में सफलता प्राप्त कर रूस ने अमेरिका को वैज्ञानिक क्षेप्यास्त्रों के निर्माण की होड़ में पछाड़ दिया है तथा लोगों के हृदय में अंतरिक्ष-यात्रा के अनुकूल वातावरण पैदा कर दिया है जिसे लोग अब तक निराशावादी मिथ्या अहंकार या अतिशयोक्ति ही समझते थे। स्पुटनिक का इतनी ऊँचाई पर जाकर

घूमना आदि से यह भी पता लगता है कि रूस के पास स्वतः नियन्त्रण वाले क्षेप्यास्त्र हैं जिन्हें योरप और अमेरिका में कहीं भी भेजा जा सकता है जैसा कि रूस के प्रधान मन्त्री श्री निकिता क्रूश्चेव ने कई बार अपने वक्तव्यों में स्पष्ट रूप से कहा है।

रूसी सफलता का प्रभाव

विश्व की जनता ने रूसी कृत्रिम उपग्रह को विश्व की सबसे बड़ी घटना मानी है और उसके प्रेषक वैज्ञानिकों की प्रशंसा करते हुए उनका अभिनन्दन की है। अमेरिका तथा पश्चिमी राष्ट्रों ने इसे केवल अपनी हार ही नहीं बल्कि खुली चुनौती भी माना है। वे यह समझने लगे हैं कि रूस की सामरिक शक्ति पहले से बहुत अधिक बलवती हो गयी है। यद्यपि स्पुटनिक छोड़े जाने का कोई राजनीतिक अथवा सामरिक महत्त्व नहीं है, फिर भी अमेरिकी नेताओं के घबड़ाने का कारण है और वह है स्पुटनिक के निर्माण का मनोवैज्ञानिक प्रभाव। स्पुटनिक की सफलता से यह निर्विविद हो गया है कि वैज्ञानिक और सामरिक शक्ति में रूस अमेरिका से तथा अन्य देशों से बहुत आगे है।

स्पुटनिकों को पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के बाहर अंतरिक्ष के वातावरण में छोड़ने की शक्ति अन्तरमहाद्वीपीय क्षेप्यास्त्र से ही प्राप्त की जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि रूस ने अन्तरमहाद्वीपीय क्षेप्यास्त्र बनाने में सफल हुआ है। जिस राष्ट्र के पास ऐसा क्षेप्यास्त्र हो उसके लिए कोई भी लक्ष्य अभेद्य नहीं है। अमेरिकी राजनीतिज्ञों के घबड़ाने का यही कारण है।

स्पुटनिक निर्माण ने वैज्ञानिक क्षेत्र में रूस की श्रेष्ठता सिद्ध कर दी है, जिसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह पड़ा है कि लोग रूस और कम्यूनिज्म को भविष्य की शक्ति के रूप में देखने लगे हैं। अमेरिकी राजनीतिज्ञ इसलिए चिंतित हो गये हैं कि इसका प्रभाव अन्तरराष्ट्रीय-शक्ति-सन्तुलन पर पड़ रहा है। स्पुटनिक निर्माण के बाद से रूस और

अमेरिका में तनातनी की वृद्धि हुई है। परमाणु और हाइड्रोजन बम क्षेत्र में सफलता प्राप्त अमेरिकी नेताओं में श्रेष्ठता की भावना घर कर गयी थी और यही कारण है कि अमेरिकी परराष्ट्र मन्त्री सर जान फास्टर डलेस अक्सर रूस को धमकी दिया करते हैं। परन्तु स्पुटनिक ने उनकी सारी धमकियों पर पानी डाल दिया। क्योंकि अन्तरराष्ट्रीय महाद्वीपीय क्षेप्यास्त्रों के बल पर रूस अमेरिकी क्षेत्र में कहीं भी पहुँच सकता है जिसकी वजह से अमेरिका संचालित सैनिक संगठनों (नाटो और सीटो) तथा विदेशी सामरिक अड्डों का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

स्पुटनिक की सफलता के कारण रूस की क्षमता और नेतृत्व शक्ति में विश्व का विश्वास बढ़ा है जिसके फलस्वरूप पूर्वी जर्मनी से उत्तरी कोरिया तथा साईबेरिया से उत्तरी वियतनाम तक कम्यूनिस्ट शिविर की एकता अधिक ठोस हुई है। यही नहीं बल्कि रूस को अफ्रीका, एशिया तथा अरब के तटस्त राष्ट्रों पर भी अपना प्रभाव फैलाने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। आज विश्व की जनता का आकर्षण समाजवाद की ओर बढ़ा है और लोग यह समझने लगे हैं कि समाजवादी व्यवस्था में ही देश अधिक उन्नति कर सकता है।

स्पुटनिक और सैनिक गुट

दक्षिण-पूर्वी एशियाई संगठन, बगदाद पैक्ट, अतलांतक-सन्धि आदि पश्चिमी राष्ट्रों की प्रेरणा का फल है। इन सैनिक सन्धियों में आबद्ध राष्ट्र रूस और रूसी साम्यवाद से हमेशा सशंक रहते हैं। स्पुटनिक की सफलता ने इन राष्ट्रों में भी खलबली मचा दी है। लोगों में यह धारणा हो गयी है कि संघर्ष की स्थिति में अमेरिका या अन्य कोई राष्ट्र उनकी सहायता न कर सकेगा या सहायता करना चाहेगा तो भी उसकी रक्षा के पहले ही रूस उनका सर्वनाश कर डालेगा। अतः लोगों का विचार अमेरिकी बन्धन को तोड़ तटस्थ एवं स्वतन्त्र परराष्ट्र नीति अपनाने की है। प्रमुख पश्चिमी राष्ट्रों को आशंका है कि रूसी प्रचार

व सफलता के कारण कहीं गुट के छोटे-छोटे राष्ट्र हट न जाँय और अपने यहाँ से रूस विरोधी अड्डे समाप्त करने पर जोर न दें। तुर्की, ईरान, इराक, यूनान आदि राष्ट्रों के बारे में ऐसी अटकलबाज़ियाँ की जा रही हैं। उनका झुकाव मिश्र और सीरिया की ओर अवश्यम्भावी है। अब वे समझ रहे हैं कि मिश्र और सीरिया ने रूस के साथ मैत्री कर अच्छा ही किया। इराक की सैनिक-क्रान्ति से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि अरब राज्यों में पश्चिमी राष्ट्रों का प्रभाव उत्तरोत्तर घटता जा रहा है।

उपग्रह छोड़ने की सफलता पर भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि शक्ति की इस सीमा तक पहुँचने के बाद सामरिक गुट-बन्दियों का अस्तित्त्व व्यर्थ हो जाता है और एक दूसरे को पराभूत करने वाले युद्ध की कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं रहता। मानव सभ्यता के लिए अत्यन्त दुर्भाग्य की बात यह है कि 'उपग्रह' के निर्माण को चेतावनी के रूप में नहीं बल्कि युद्धोपकरणों के निर्माण की स्पर्धा में आगे बढ़ाने की उत्तप्रेरणा के रूप में ग्रहण किया जा रहा है।

नाटो परिषद् का विशेष अधिवेशन बुलाना, मैकमिलन की अमेरिकी यात्रा तथा मैकमिलन-आइसनहावर वार्ता, दोनों राष्ट्रनायकों का पारमाणविक क्षेत्र में पहले से अधिक सहयोग करने की चर्चा, अतलांतक गुट के अन्य राष्ट्रों से भी पारमाणविक रहस्यों में सहयोग की सहमति आदि इस बात को सूचित करते हैं कि पश्चिमी राष्ट्र अब भी शस्त्रास्त्रों के निर्माण की होड़ में रूस को पछाड़ने की सामरिक दृष्टि से ही विचार कर रहे हैं। इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करना उचित नहीं है क्योंकि इससे कटुता और बढ़ेगी जिसका फल बड़ा ही भयङ्कर होगा। अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की नीति अपनाने में ही कल्याण है। जिस प्रकार परमाणु शक्ति को जनोपयोगी कार्यों की ओर मोड़ा गया है उसी प्रकार स्पुटनिक और रूसी राकेटों को भी वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा अंतरिक्ष के रहस्यों की

जानकारी प्राप्त करने के लिए ही प्रयोग में लाना चाहिएँ। अतः राजनीतिज्ञों को इस शक्ति का दुरुपयोग न कर इसका क्षेत्र वैज्ञानिक अनुसंधान तक ही सीमित रखना चाहिए। इसी में विश्व का कल्याण निहित है और इससे विश्व के राष्ट्रों में पारस्परिक द्वेष की भावना उत्पन्न न होगी बल्कि यह शक्ति मानव उत्थान में सहायक ही सिद्ध होगी।

अध्याय १२

अन्तरराष्ट्रीय समस्यायें

:rn ational Problems)

विश्व के सम्मुख आज अनेक समस्यायें हैं जिनको सुलझाने में संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा शांतिप्रिय देश प्रयत्नशील हैं। कुछ प्रमुख समस्याओं का यहाँ उल्लेख किया गया है।

• साइप्रस (Cyprus)

पश्चिमी बड़े राष्ट्र अपने स्वार्थ साधन के लिए अपने छोटे मित्र-राष्ट्रों के हितों पर भी कुठाराघात कर सकते हैं, इसका ज्वलन्त प्रमाण साइप्रस का प्रश्न है। -

साइप्रस भूमध्यसागर का सबसे बड़ा टापू है। इसकी भौगोलिक स्थिति सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हवाई अड्डे बनाये जा सकते हैं। रूस निकट होने के कारण उस पर आसानी से आक्रमण कर सकता है। विश्व का सबसे महत्त्वपूर्ण जल-मार्ग स्वेज नहर इसके निकट है। युद्ध की स्थिति में साइप्रस को आधार बनाकर इस जल-मार्ग पर आधिपत्य कायम किया जा सकता है।

यहाँ की कुल जनसंख्या करीब ५ लाख है जिसमें करीब ४ लाख यूनानी और १ लाख तुर्क हैं। सर्वप्रथम साइप्रस पर तुर्क वालों का अधिकार था। तुर्की शासन काल में साइप्रस वालों पर अनेक अत्याचार होते थे जिससे उनमें अशान्ति फैलने लगी और तुर्की शासन के विरुद्ध विद्रोह की आग भभकने लगी। सन् १८२६ में यूनान एक स्वतन्त्र राष्ट्र

घोषित हुआ, इससे साइप्रस की यूनानी आबादी को प्रेरणा मिली। वे यूनान के साथ सम्मिलित कर लिये जाने की माँग करने लगे। इसी समय 'इनोसिस' आन्दोलन का जन्म हुआ।

सन् १८७८ में बर्लिन-सन्धि हुई और ब्रिटेन को साइप्रस मिला। लेकिन कुछ समय तक साइप्रस पर तुर्की का ही अधिकार रहा। सन् १९१४ में जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ, तब ब्रिटेन ने साइप्रस को सदा के लिए ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल कर लिया। सन् १९२५ में ब्रिटेन एक अध्यादेश निकाल कर साइप्रस को ब्रिटिश साम्राज्य में विधिवत् मिला लिया। साइप्रस पर शासन करने के लिए एक गवर्नर नियुक्त हुआ। उसकी सहायता के लिए एक कार्यपालिका और एक विधान-परिषद् बनायी गयी जिनमें यूनानियों और तुर्कों को अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

आजकल साइप्रस में काफी राजनीतिक सरगरमी है। वहाँ 'इनोसिस' और 'इओका' आंन्दोलन बड़े जोर से चल रहा है। इस आन्दोलनों का नेतृत्व नेता पादरी आर्कबिशप मकारियास कर रहे हैं।

साइप्रस-समस्या एक अन्तरराष्ट्रीय समस्या बन गयी है। इसमें तीन राष्ट्र, ब्रिटेन, यूनान और तुर्की उलझे हुए हैं। इन राष्ट्रों में इतना अधिक पारस्परिक विषमता तथा मतभेद है कि इस समस्या का शीघ्र समाधान होना कठिन दिखाई दे रहा है।

जैसा कि आगे कहा जा चुका है, पूर्वी भूमध्यसागरीय क्षेत्र में महत्त्व-पूर्ण सामरिक स्थिति वाले टापू साइप्रस में यूनानी बहुसंख्यक हैं और एक लघु अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में तुर्क हैं। साइप्रस-निवासी यूनानियों की माँग है कि साइप्रस को यूनान में मिला दिया जाय और इसी कारण वे 'इनोसिस' आन्दोलन चला रहे हैं जिसका ध्येय है कि साइप्रस को यूनान में मिला देना चाहिए। इस अन्दोलन को यूनान का समर्थन प्राप्त है। यूनानियों का कहना है कि दोनों देशों की भाषा, सभ्यता,

संस्कृति, धर्म आदि में एकता है। अतः साइप्रस को यूनान देश में मिला देना चाहिए। द्वितीय महायुद्ध के बाद के दिनों में यूनान से मिलने की माँग का ब्रिटेन द्वारा विरोध और जनता का दमन होने पर 'इनोसिस' आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया है। यूनानी सरकार ने भी साइप्रस स्थिति यूनानियों का पक्ष लेने लगी और साइप्रस की स्वतन्त्रता और उसके लिए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की माँग करने लगी। ब्रिटिश सरकार इन माँगों को ठुकराती रही और अपने दमन चक्र को जारी रक्खा। अन्त में विवश हो यूनान की सरकार को साइप्रस समस्या को राष्ट्रसंघ में ले जाना पड़ा।

दूसरी ओर अल्प संख्यक के रूप में तुर्क हैं जो 'इनोसिस' आन्दोलन का विरोध करते हैं। जब साइप्रस के यूनानियों ने साइप्रस-समस्या को सुलझाने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ से अपील की तो तुर्की जनता ने इसका विरोध किया। तुर्की सरकार भी इन लोगों का पक्ष ले रही है। उनका कहना है कि साइप्रस अब तक तुर्की साम्राज्य का एक भाग था। फिर यूनान की अपेक्षा साइप्रस तुर्की के अधिक करीब है। सुरक्षा की दृष्टि से साइप्रस तुर्की को फिर मिलना चाहिए।

साइप्रस समस्या के जटिल होने का एक और भी कारण है। इस समस्या से सम्बद्ध राष्ट्र नाटो-सैनिक-संघटन के सदस्य हैं। ब्रिटेन और यूनान में जब इस समस्या को लेकर मनमुटाव बढ़ने लगा तो नाटो की एकता खतरे में पड़ने लगी। अमेरिका नाटो की एकता को बनाये रखने के लिए ब्रिटेन पर इस बात का दबाव डालने लगा कि साइप्रस की समस्या को जनमत के आधार पर शीघ्र से शीघ्र सुलझा देना चाहिए। अमेरिका के दबाव पर ब्रिटेन ने एक गोलमेज सम्मेलन करने का निश्चय किया। यह सम्मेलन लन्दन में २६ अगस्त १९५५ से प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में तुर्की सरकार को भी आमन्त्रित किया गया। तीनों राष्ट्रों के विचार में इतना मतभेद था कि कोई उपाय नहीं निकल

सका। ब्रिटेन साइप्रस को स्वशासन देने के पक्ष में था। यूनानी प्रतिनिधि साइप्रस के लिए 'आत्म-निर्णय का सिद्धान्त' (Principle of Self-determination) चाहता था। तुर्की प्रतिनिधि इसका विरोध करता था। फिर साइप्रस वालों का कहना था कि साइप्रस निवासियों का ही प्रतिनिधित्त्व नहीं हुआ है। अतः इस सम्मेलन को साइप्रस के बारे में कोई निर्णय देने का अधिकार नहीं है। फल यह हुआ कि यह सम्मेलन बिना कोई निर्णय के समाप्त हो गया।

जहाँ तक ब्रिटेन का सम्बन्ध है, वह साइप्रस को आन्तरिक मामलों तक की स्वशासन देना चाहता है। उसका कहना है कि वह अनेक सैनिक गुटों का सदस्य है जिसके अंतर्गत उसे अनेक सुरक्षात्मक उत्तर-दायित्व निभाने हैं। अपने इन उत्तरदायित्त्व को पूरा करने के लिए साइप्रस का उसके अधीन होना आवश्यक है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब तक अन्तरराष्ट्रीय राजनीति का वर्तमान रूप रहेगा और 'शीत-युद्ध' (Cold War) बन्द नहीं हो जाता, तब तक ब्रिटेन के हाथों से साइप्रस की मुक्ति नहीं हो सकती।

लन्दन सम्मेलन के बाद साइप्रस की राजनीतिक स्थिति फिर खराब हो गयी। सम्पूर्ण देश में आतंक छा गया। यूनान नाटो के अधिवेशनों में भाग लेने से इनकार कर दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह 'नाटो' से पृथक हो जायगा। अमेरिका नाटो के राष्ट्रों के बीच फूट नहीं चाहता था। अतः वह फिर ब्रिटेन पर दबाव डालने लगा। अमेरिकी प्रयत्न के फलस्वरूप ब्रिटेन ने साइप्रस-समस्या को सुलझाने के लिए ३ अक्टूबर सन् १९५५ को सर जान हार्डिन्ज को साइप्रस का गवर्नर बना कर भेजा। सर जान हार्डिन्ज ने वार्ता के लिए आर्कबिशप मकारियास को आमन्त्रित किया। किंतु वार्तालाप का कोई फल नहीं निकला। इसके बाद ब्रिटेन के उपनिवेश-मन्त्री साइप्रस आये, लेकिन उनका भी प्रयास व्यर्थ रहा। इन सब विफलताओं का परिणाम यह हुआ कि साइप्रस की स्थिति

दिन प्रतिदिन बिगड़ती ही गयी। ६ मार्च सन् १९५६ को साइप्रस की सुरक्षा व शांति के नाम पर आर्कबिशप मकारियास को ब्रिटेन ने गिरफ्तार कराकर किसी गुप्त स्थान को भेज दिया।

आर्कबिशप मकारियास की गिरफ्तारी और देश निष्कासन का समाचार साइप्रस और यूनान में बिजली की तरह फैल गया। साइप्रस के यूनानियों ने हड़ताल मनायी तथा विरोध में जलूस निकाले। उधर जब यूनान की सरकार को यह खबर मिली तो उसने अपना राजदूत ब्रिटेन से वापस बुला लिया और सुरक्षा परिषद् में साइप्रस के प्रश्न को लेकर ब्रिटेन के विरुद्ध शिकायत कर दी, यहाँ तक कि ब्रिटेन में ही सरकार के इस कार्य की कटु आलोचना हुई। अमेरिकी सरकार ने ब्रिटेन के इस कार्य की निन्दा की और एक बार फिर साइप्रस समस्या को शांति से सुलझाने के लिए ब्रिटेन से आग्रह किया। लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला जिससे ब्रिटेन और अमेरिका के बीच थोड़े समय के लिए मतभेद हो गया।

यह सब होते हुए भी साइप्रस के प्रति ब्रिटिश नीति में कोई फर्क नहीं आया। १२ जुलाई सन् १९५६ को साइप्रस के लिए इडेन-सरकार ने एक योजना प्रस्तुत की तथा प्रमुख विधान विशेषज्ञ लार्ड रैडक्लिफ को साइप्रस की वस्तु स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए साइप्रस भेजा। दिसम्बर सन् १९५६ में लार्ड रैडक्लिफ ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने साइप्रस के लिए द्वैध-शासन (Dual System of Government) की सिफारिश की। इस द्वैध-शासन प्रणाली के अन्तर्गत साइप्रस की सरकार को दो भागों में बाँटा जायगा। एक भाग जिसके अन्तर्गत सुरक्षा और विदेशी नीति होगा, गवर्नर के अधीन रहेगा और दूसरे भाग के अन्तर्गत अन्य सभी चीजें रहेगी और जिसके शासन के लिए एक मन्त्रि-मण्डल होगा। साइप्रस वालों ने इस द्वैध-शासन प्रणाली का घोर विरोध किया। साइप्रस की दशा बिगड़ने लगी। अन्त में विवश होकर ब्रिटेन ने

आर्कबिशप मकारियास को मुक्त कर दिया, पर उन्हें साइप्रस प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी गयी।

अगस्त '५८ में ब्रिटेन ने साइप्रस के लिए एक साझेदारी की योजना बनाया जिसमें यह कहा गया कि शांति होने पर सभी निर्वासित साइप्रस-वासियों को वापस बुलाया जायगा, मतदाता सूची तैयार करायी जायगी; जिससे साइप्रस में यूनानियों एवं तुर्कों की पृथक विधान सभाओं का चुनाव हो सके। इस योजना को आर्कबिशप मकारियास ने 'मूर्खतापूर्ण' कहकर अस्वीकृत कर दिया। इस योजना के उत्तर में आर्कबिशप मकारियास ने स्वतन्त्र साइप्रस सम्बन्धी एक प्रस्ताव रखा जिसे ब्रिटेन ने अस्वीकार कर दिया।

२ दिसम्बर '५८ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक समिति में भारतीय सुरक्षामन्त्री श्री बी० के० कृष्ण मेनन ने साइप्रस के प्रश्न पर जो भाषण दिया, उससे इस समस्या पर काफी प्रकाश पड़ता है। उन्होंने अपने भाषण में कहा—"हमारा पक्ष यह है कि साइप्रस साइप्रसवासियों का है। सन् १९५५ में इस प्रश्न पर एक नयी बात सामने आयी। पहले साइप्रस में ब्रिटेन और यूनान ये दो ही पक्ष थे, पर उस समय एक तीसरा पक्ष तुर्की भी बीच में आ गया। तीन ब्रिटिश प्रधान मन्त्री सर्व श्री ग्लैडस्टन, लायड जार्ज और चर्चिल यूनान के साथ साइप्रस-यूनियन की चर्चा कर चुके हैं। पर ब्रिटेन की राष्ट्रीय नीति पर परिवर्तन आने के बाद से साइप्रस के ऐक्य में भी टोटे का प्रसंग उपस्थित हो गया है। प्राचीन-काल में साइप्रस एक साम्राज्य था। बाद में वह ओटोमन साम्राज्य का अंग बना और प्रायः १९ वीं शताब्दी के अन्त में अंग्रेज साइप्रस की प्रभुसत्ता के रक्षार्थ पहुँचे। तुर्की ने रूसी जारशाही से साइप्रस की अखंडता की रक्षा के लिए ही अंग्रेजों को बुलाया था। इसलिए सवाल तुर्क या यूनान का नहीं, वरन् साइप्रस का है। बाद, २०-३० साल तक साइप्रस 'एक शाही उपनिवेश' की तरह बना रहा। ध्यान रखने की बात यह है

कि उसे दो उपनिवेश नहीं माना गया था और एक ही गवर्नर वहाँ नियुक्त किया गया था।

"इस प्रकार साइप्रस का इतिहास देखने से प्रकट होता है कि साइप्रस के विभाजन का प्रश्न ही नहीं है। क्या तीन-चार हजार साल के इतिहास पर पर्दा डालकर पिछले कुछ वर्षों की बात पर ही विचार किया जायगा? साइप्रस के इतिहास में दो इकाइयों की कोई बात ही नहीं। आज साइप्रस में दो भाइयों के बीच जैसी कटुता देखी जा रही है, ऐसी यदि पहले से रही होती तो इस टापू में कोई जीवित न रह जाता। तुर्की और यूनानी के बीच वहाँ रेखा खींच सकने जैसी गुंजाइश नहीं कि एक क्षेत्र तुर्की और दूसरा यूनानी करार दिया जाय। यदि अल्पसंख्यक दृष्टि से विचार हो तो आरमीनियाई, अरब और दूसरे भी वहाँ रहते ही हैं।

"भौगोलिक दृष्टि से साइप्रस और तुर्की के बीच ४० मील के सागर का अन्तर दिखलाकर ब्रिटिश उपनिवेश मन्त्री उसे उसका निकटस्थ टापू करार देते हैं। सीरिया से भी तो साइप्रस दिखलायी पड़ता है। ऐसे उग्र विचारों पर हम नहीं जाना चाहते। साइप्रस ने प्रगति की है और ध्यान इस बात पर देना है कि वह पीस न दिया जाय। इसके बहुत प्रमाण हैं कि साइप्रसवासियों का अपना एक स्वरूप है। वे साइप्रसाई, तुर्की या यूनानी की तरह वार्ता करते हैं। एक अंग्रेज गवर्नर ही साइप्रस के बारे में कह चुका है कि वहाँ साम्प्रदायिक कटुता नहीं है। उत्पन्न कटुता नयी बात है।"

उपर्युक्त भाषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साइप्रस की समस्या ब्रिटेन की उपज है। भारत सदैव की भाँति शांति और स्वतन्त्रता का जोरदार समर्थक रहा है। उसकी दृष्टि में साइप्रस साइप्रसवासियों का है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटेन 'फूट डालो' और 'राज्य करो' की नीति को अपनाकर साइप्रस पर शासन करना चाहता है। साइप्रस की

भौगोलिक स्थिति इतनी महात्त्वपूर्ण है कि वह उसे सहज में छोड़ देना नहीं चाहता। अल्प संख्यक तुर्कों का पक्ष लेकर साइप्रस-स्थित यूनानियों और तुर्कों के बीच फूटमत पैदा करके अपने शासन को बनाये रखना चाहता है। ब्रिटेन की दुरंगी नीति का ही परिणाम है कि एशिया में पाकिस्तान तथा मध्य पूर्व में इसराइल की स्थापना हुई। दुःख की बात तो यह है कि साइप्रस में ब्रिटेन की इतनी जबरदस्ती और जुल्म होने पर भी राष्ट्रसंघ ने अब तक साइप्रस के मामले में कोई हस्तक्षेप नहीं किया है। समय की माँग तो यह है कि साइप्रस को अविलम्ब स्वतन्त्रता दे दी जाय। स्वतन्त्र होने पर साइप्रस-निवासी स्वयं यह निर्णय कर लें कि वे यूनान के साथ रहेंगे या स्वतन्त्र रूप से।

माल्टा (Malta)

माल्टा-भूमध्यसागर में फ्रान्स के दक्षिण स्थित एक छोटा-सा द्वीप है। इसका भौगोलिक और सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्व-प्रथम इस पर फ्रान्स का अधिकार था। सन् १८१४ में यह ब्रिटेन के अधिकार में आ गया। सन् १९५५ में माल्टा को स्वशासन का अधिकार दिया गया। माल्टा की संसद् को कानून बनाने का अधिकार है लेकिन परराष्ट्र और प्रति-रक्षा-विभाग ब्रिटेन के अधीन है।

माल्टा तथा ब्रिटेन का सम्बन्ध कटु होने का मुख्य कारण ब्रिटेन द्वारा सन् १९५५ में हुए समझौते की उपेक्षा है। उक्त समझौते में ब्रिटेन ने आश्वासन दिया था कि माल्टा के जहाजी कारखाने बन्द होने से जो मजदूर बेकार होंगे, उन्हें ब्रिटेन काम काम लगाने का प्रयत्न करेगा। समय आने पर ब्रिटेन के साफ इन्कार करने पर माल्टा में जो उसकी प्रति-क्रिया हुई, उसी का परिणाम है कि ३० दिसम्बर सन् १९५७ को माल्टा की संसद ने ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद करने का निश्चय कर लिया।

डाक्टर डाम मिंटाफ माल्टा के समाजवादी प्रधान मन्त्री हैं। ये पहले ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के कट्टर समर्थक थे। उदार-

विचार के होते हुए भी श्री मिंटाफ में क्रान्तिकारी परिवर्तन का मुख्य कारण ब्रिटेन का प्रतिरक्षा व्यय में कटौती करना है। इस कटौती से १२ हजार गोदी मजदूरों के बेकार होने की सम्भावना थी। श्री मिंटाफ ने ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की कि वह ऐसा कदम न उठाये और यदि उठाये तो बेकार होने वाले मजदूरों के लिए काम की व्यवस्था कर दे। श्री मिंटाफ ने इस सम्बन्ध में ब्रिटेन के उपनिवेश सचिव श्री एलन लेनाक्स बायड से भी अपील की। लेकिन सभी प्रयत्न विफल रहे। अन्त में श्री मिंटाफ ने ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने का एक विधिवत् प्रस्ताव माल्टा के संसद में उपस्थित किया। समाचार मिलते ही उपनिवेश सचिव ने माल्टा के नाम अपना एक विशेष सन्देश भेजा जिसमें बताया कि उन्होंने माल्टा के संसद में पेश होने वाले प्रस्ताव की रिपोर्ट देखी है, किन्तु उससे वह काम नहीं हो सकेगा जिसके लिए ब्रिटेन और माल्टा दोनों देश प्रयत्नशील हैं। साथ ही साथ दोनों देशों के समान हित को भी लाभ न पहुँचेगा।

ब्रिटिश उपनिवेश सचिव श्री एलन लेनाक्स बायड के विशेष सन्देश सुनने पर सम्बन्ध विच्छेद वाले प्रस्ताव पर मत लिया गया। प्रधान मंत्री डाक्टर डाम मिंटाफ का प्रस्ताव सर्वसम्मति से ३० दिसम्बर सन् १९५७ की रात्रि को पास हो गया। अपने भाषण में श्री मिंटाफ ने बताया कि यदि ब्रिटेन अपनी वायु या स्थल सेना के साथ उद्जन या पारमाणविक बम लेकर माल्टा आता है तो भी वह जनता की इच्छा के विरुद्ध उन लोगों पर शासन करने में समर्थ न होगा।

८ जनवरी सन् १९५८ को माल्टा ने ब्रिटेन से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने के निश्चय को बदला। माल्टा के प्रधान मन्त्री श्री डाम मिंटाफ ने ब्रिटेन को सूचित किया कि अब ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद करने की आवश्यकता नहीं है। श्री मिंटाफ ने इस सम्बन्ध में ब्रिटिश उपनिवेश सचिव एलन लेनाक्स बायड को एक पत्र भी लिखा जिसमें माल्टा के

उक्त निश्चय की सूचना देते हुए कहा गया कि माल्टा में रोजगार का स्तर बनाये रखने के प्रति जब तक ब्रिटेन की नियत साफ है, तब तक किसी कार्रवाई की आवश्यकता नहीं है।

४ जनवरी '५६ को श्री मिंटाफ ने घोषणा की है कि यदि ब्रिटेन ने माल्टा की स्वतन्त्रता स्वीकार न की तो द्वीप में 'सविनय अवज्ञा-आंदोलन' आरम्भ किया जायगा। उन्होंने यह भी चेतावनी दी है कि यदि ब्रिटेन हमारी स्वतन्त्रता में सहायता नहीं करता तो अन्य कोई शक्ति इसके लिए तैयार हो जायगी।

गोवा (Goa)

भारत में उपनिवेशवाद की एक निशानी गोवा, दामन और दिव के रूप में अब भी बच गयी है। भारत से ब्रिटेन और फ्रान्स तो हट गये, किन्तु पश्चिमी किनारे पर पुर्तगाली साम्राज्य के अवशेष के रूप में गोवा पर पुर्तगाली अधिकार बना हुआ है।

१६वीं शताब्दी के लगभग ही इन प्रदेशों पर पुर्तगाल का अधिकार हो गया था। उस समय बम्बई भी पुर्तगाली साम्राज्य में सम्मिलित था। गोवा, दामन और दिव का कुल क्षेत्रफल १५३८ वर्गमील है। यहाँ की जनसंख्या ६ लाख से अधिक है। ६००० मील की दूरी से पुर्तगाल इस प्रदेश पर शासन करता है तथा इसे पुर्तगाल का ही अंग समझता है।

दामन बम्बई से १०० मील उत्तर में है। इसके निकट दो और छोटी बस्तियाँ हैं—दादरा (एक गाँव) तथा नगर हवेली (करीब २० गाँव)। ये बस्तियाँ भारत की सीमा में ३० मील तक स्थित हैं। सन् १९४७ में जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब इन प्रदेशों का भारत में विलय होने का प्रश्न उठा। उस समय पांडेचरी, माही आदि कुछ फ्रान्सीसी उपनिवेश भी थे जो कुछ समय बाद भारत में मिला दिये गये। पुर्तगाल ने फ्रान्सीसी उदाहरण का अनुकरण करने से अस्वीकार कर दिया। फल-

स्वरूप इन प्रदेशों में भारत में सम्मिलित होने के लिए स्वातन्त्र-आंदोलन आरम्भ हो गये। पुर्तगाल ने अपना दमन चक्र जारी किया। आंदोलन-कर्त्ताओं के साथ बर्बरता का व्यवहार किया जाने लगा। वे जेल में ठूस दिये गये। कितने मृत्यु के घाट उतार दिये गए। गुप्त आन्दोलन शुरू हुआ। भारतीयों ने इन स्वातन्त्र-प्रेमियों के प्रति सहानुभूति दिखलायी और इन प्रदेशों में प्रवेश किया। पुर्तगालियों के शासन को समाप्त करने के निमित्त संगठित गोवा निवासियों के स्वातन्त्र आन्दोलन ने सन् १६५४ में भारतीय सीमा स्थित दादरा और नगर हवेली को मुक्त कर गोवाई जनता की 'वरिष्ठ पंचायत' का शासन कायम किया। पुर्तगाल अब इन मुक्त बस्तियों को फिर से गुलाम बनाने के लिए फौज और प्रशासनिक अधिकारी भेजने का अधिकार चाहता है। इस अधिकार की माँग के लिए पुर्तगाल ने २१ सितम्बर सन् १६५७ को अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय में अपील की। पुर्तगाल अपने इस अधिकार के समर्थन में सन् १७७६ में मरहठों के साथ हुई सन्धि का हवाला देता है।

भारत ने न केवल पुर्तगाली आरोपों के विरुद्ध आपत्ति उठायी बल्कि विश्व न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को भी चुनौती दी। भारत की ओर से भारत के महाधिवक्ता श्री सीतलवाड ने पैरवी की। उन्होंने अपने ६ तर्क पेश करते हुए पुर्तगाली आवेदन को अनियमित ही नहीं बल्कि अवैध भी बतलाया। ये तर्क निम्नलिखित थे :—

(१) भारत का मत है कि पुर्तगाल ने अपने आवेदन में अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के जिस अनिवार्य कार्य क्षेत्र का हवाला दिया है वह अवैध है क्योंकि पुर्तगाल ने स्वयं अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्र की यह बाध्यता स्वीकार नहीं की है।

(२) पुर्तगाल ने जिस समय आवेदन किया, उस समय भारत ने अतर-राष्ट्रीय न्यायालय के अनिवार्य कार्य क्षेत्र को स्वीकार नहीं किया था।

(३) इस मामले में न्यायालय का आवाहन करने का पुर्तगाल को

अधिकार प्राप्त नहीं है, क्योंकि आवेदन-पत्र दाखिल करते समय घोषणा की बातें भारत को नहीं भेजी गयी थी।

(४) आवेदन-पत्र दाखिल करने के पूर्व यह आवश्यक था कि पुर्तगाल ने कूटनीतिक वार्ता की सहायता से इस प्रश्न को हल करने का अन्तिम प्रयत्न किया होता।

(५) आवेदन-पत्र में जिन बातों का उल्लेख है वे भारत के आन्तरिक मामलों से सम्बन्धित है। इसलिए भी न्यायालय उस पर विचार नहीं कर सकती।

(६) आवेदन-पत्र न्यायालय के विचार क्षेत्र से इसलिए भी बाहर है कि भारत तथा पुर्तगाल के इस विचार का व्यापक राजनीतिक आधार है।

श्री सीतलवाड़ ने पुर्तगाली आवेदन पर आपत्ति करते हुए अपने बहस में कहा कि विश्व न्यायालय को विचार करने का अधिकार तभी प्राप्त होता है जब विवाद से सम्बद्ध दोनों पक्ष एक मत हों और विवाद को न्यायालय के समक्ष ले जाने का निश्चय करें। यदि सम्बद्ध पक्षों ने न्यायालय की तत्सम्बन्धी घोषणा को मान्यता दी है तो कुछ मामलों में न्यायालय को स्वतः विचार करने का अधिकार प्राप्त होता है। भारत ने इस घोषणा को मान्यता देने पर भी कुछ विषयों को न्यायालय के विचार क्षेत्र से बाहर रखने का अपना अधिकार सुरक्षित रखा है। पुर्तगाल ने इस घोषणा को मान्यता नहीं दी है और यदि दी भी है तो शिष्टाचार के नाते। उसे भारत को जताना चाहिए था जो उसने नहीं किया। आवेदन-पत्र प्रस्तुत करने के पहले विवाद के निपटारे के संबंध में कूटनीतिक स्तर पर समझौते का पूर्ण प्रयास करना आवश्यक है। पुर्तगाल ने यह शर्त भी पूरी नहीं की और बिना भारत को किसी तरह सूचित किये अकस्मात् न्यायालय में आवेदन करने का निश्चय कर डाला। भारतीय भूमि से होकर सेना भेजने के सम्बन्ध में पुर्तगाल ने

सन् १७७६ की जिस सन्धि का हवाला दिया है, उसमें दादरा और नगर हवेली का कोई उल्लेख नहीं है। भारत के महाधिवक्ता ने यह भी कहा कि ब्रिटिश काल में भी इन बस्तियों में पुर्तगालियों के जाने का अधिकार ब्रिटिश सरकार की इच्छा पर निर्भर था। उन्होंने यह भी कहा कि पुर्तगाल का आवेदन गोवा की स्वतन्त्रता और राजनीतिक प्रश्नों से सम्बद्ध है और पुर्तगाल उसे कानूनी जामा पहनाकर राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि करना चाहता है। पुर्तगाल के आवेदन और भारत द्वारा आवेदन के साथ ही इस मामले में विश्व न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के विरुद्ध आपत्ति उठाने से इस प्रश्न को अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो गया है। इस विवाद का इसलिए और भी महत्त्व है कि सत्रह जजों वाले विश्व न्यायालय के अध्यक्ष अमेरिकी जज श्री ग्रीन एच० हैकवर्थ हैं और जजों में एक पाकिस्तानी जज भी है। अमेरिका और पाकिस्तान गोवा का पक्ष लेते हैं।

२४ सितम्बर '५७ को भारतीय पक्ष से बहस करते हुये प्रोफेसर वालडक ने तीन तर्क पेश किया। उन्होंने कहा कि पुर्तगाल ने अपने आवेदन में यह जो शर्त लगा रखी है कि किसी भी समय और किसी भी प्रकार के झगड़े के प्रसंग में राष्ट्रसंघीय महामन्त्री को सूचना देकर घोषणा की परिधि से पृथक होने का पुर्तगाल सरकार का अधिकार सुरक्षित बना रहेगा, वैकल्पिक धारा की बातों से बेमेल है। अतः न्यायालय के अनिवार्य न्याय क्षेत्र को स्वीकार करने के लिये पुर्तगाली घोषणा पूर्णतः अवैध मानी जानी चाहिये। दूसरी बात यह है कि पुर्तगाल के आवेदन-पत्र से वैकल्पिक धारा के अन्तर्गत विश्व न्यायालय का अनिवार्य न्याय-क्षेत्र स्थापित नहीं हो पाता और जब अनिवार्य न्याय क्षेत्र-स्थापित नहीं हो पाता तो विश्व न्यायालय को पुर्तगाली आवेदन पत्र पर विचार करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। प्रोफेसर वालडक का तीसरा तर्क यह था कि २२ दिसम्बर सन् १६५५ को जब पुर्तगाल ने यह दरखास्त पेश

की तो पुर्तगाल की घोषणा भारत सरकार के पास नहीं भेजी गई। फलतः वैकल्पिक भारत के अन्तर्गत उक्त तिथि को पुर्तगाल के आवेदन-पत्र पर सुनवाई का अधिकार विश्व न्यायालय को नहीं प्राप्त था। २५ सितम्बर को जेनेवा स्थित इन्टरनेशनल-ला के प्रोफेसर पी० गुजेन हेम ने भारत की ओर से बहस करते हुये कहा कि भारत से होकर जाने के अधिकार के प्रश्न पर पुर्तगाल को सबसे पहले कूटनीतिक वार्ता का माध्यम अपनाना चाहिये था। २६ सितम्बर को भारत की ओर से ब्रिटेन के भूतपूर्व महान्यायवादी तथा ब्रिटिश महारानी के वर्तमान कानूनी सलाहकार श्री फ्रैंक सोसकिस ने बहस में भाग लिया। भारतीय भूमि की ओर से जाने के लिये पुर्तगाल द्वारा की गयी माँग पर बहस करते हुये आपने कहा कि आवेदन-पत्र में हमें यह भी नहीं बताया गया है कि किस प्रकार की सेना ले जायी जायगी। सैनिकों के पास केवल साधारण हथियार होंगे या वे तोपखाने, टैंक या बड़े-बड़े शस्त्रास्त्र भी ले जायेंगे। हमें यह भी नहीं ज्ञात है कि इसके लिये पहले से कोई नोटिस या सूचना भी आवश्यक होगी या नहीं और न यह स्पष्ट है कि भारत को उक्त अधिकार उस समय भी देना होगा जब वह युद्धरत हो या जब वह किसी युद्ध में तटस्थ हो। वस्तुतः पुर्तगाल ने इस अन्तरराष्ट्रीय अधिकार की शर्तों, सीमाओं आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताया है।

२५ नवम्बर सन् १९५७ की बैठक में अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय ने अपना निर्णय सुनाया। भारत द्वारा पेश की गई ६ प्रारम्भिक आपत्तियों में से दो पर अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय ने कोई निर्णय नहीं दिया। ये दोनों बातें औचित्य के प्रश्न के साथ जोड़ दीं और निर्णय की कि मार्ग सम्बन्धी अधिकार के औचित्य के प्रश्न पर कार्रवाई जारी रहेगी। शेष चार आपत्तियों को विश्व न्यायालय ने अस्वीकार कर दिया। अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के चार विचारपतियों ने भारत के विरुद्ध दी गयी निर्णय के प्रति अपनी सहमति प्रकट की। ये थे विचारपति कोनिकोव

(रूस), उपाध्यक्ष बहावी (मिश्र), विचारपति कालेस्टाड (नार्वे) और मुहम्मद अली करीम छागला (भारत)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुर्तगाल कुछ अंश तक पूर्वी-पश्चिमी गुटबन्दी का लाभ उठाने में सफल हुआ है। शेष दो आपत्तियों पर हंगरी में अत्याचार के प्रति चिन्तित होने वाले और गोवा में पुर्तगाली अत्याचार और उत्पीड़न की ओर से आँख मूँदने वाले पश्चिमी राष्ट्र की न्याय-बुद्धि क्या करेगी, अभी से कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन आशा है अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय में भारत के पक्ष के औचित्य को समझा जायगा।

काश्मीर (Kashmir)

पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों की स्वार्थपूर्ण नीति ने काश्मीर को एक अन्तरराष्ट्रीय समस्या का रूप दे रखा है। वास्तव में देखा जाय तो काश्मीर जैसी कोई समस्या ही नहीं है क्योंकि भारत में काश्मीर का विलय अन्तिम रूप से हो चुका है। वह आज भारत का एक अंग बन चुका है। चूँकि एक बार काश्मीर का प्रश्न राष्ट्रसंघ में भारत द्वारा ले जाया गया था, इसलिए यहाँ पर काश्मीर के प्रश्न को सुलझाने के निमित्त राष्ट्रसंघ-द्वारा किये गये कार्यों का ही उल्लेख किया जायगा।

काश्मीर का अपना एक प्राचीन इतिहास है। इतिहास के पृष्ठों को उलटने से पता चलता है कि चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत भ्रमण करता हुआ काश्मीर गया था। छठीं शताब्दी में काश्मीर का शासक प्रवरसेन द्वितीय था। वह एक पराक्रमी राजा था। उसने अपने शासन-काल में अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त किया और एक भव्य नगर का निर्माण किया। हिन्दू शासकों में अन्तिम शक्तिशाली शासक रानी दिद्दा (९५०-१००३) थी। इसके बाद लोहार वंश का आरम्भ हुआ, इस वंश का अन्तिम शासक सिंहदेव था।

सिंह देव की मृत्यु के बाद काश्मीर में इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ।

रैनचानशाह काश्मीर का प्रथम मुस्लिम शासक था। ढाई वर्ष बाद रैनचानशाह की मृत्यु हो गयी। उसके बाद उदयनदेव काश्मीर का राजा हुआ। सन् १४२० में जैन उल अब्दीन राज्य सिंहासन पर बैठा। यह एक विद्वान और प्रकृति प्रेमी शासक था। इसने हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायी। सन् १५८६ में अकबर ने काश्मीर पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। जहाँगीर प्रकृति प्रेमी था। वह काश्मीर से बहुत स्नेह रखता था। औरंगज़ेब अपने शासन-काल में केवल एक बार काश्मीर गया था। उसके बाद उसकी मृत्यु ही हो गयी। सन् १७५२ से काश्मीर अफ़गान शासकों के अधीन आ गया।

इसके बाद का इतिहास डोगरा राजा गुलाब सिंह का इतिहास है। गुलाब सिंह महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में नौकर थे। उनकी सेवाओ से प्रसन्न होकर सन् १८२० में० महाराजा रणजीत सिंह ने उन्हें जम्मू का राजा वना दिया। दस वर्ष के भीतर गुलाब सिंह ने काश्मीर और पंजाब के लगभग सारे प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। सन् १८४५ में जब अंगरेजों और सिखों के बीच युद्ध छिड़ा, तब गुलाब सिंह ने अंगरेजों की सहायता की। सन् १८५७ में उनकी मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारी रणवीर सिह ने गिलगिट तथा आस-पास के प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। सन् १८८५ में रणवीर सिंह की मृत्यु हो गयी। उनके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र महाराजा प्रताप सिंह गद्दी पर बैठे। सन् १९२५ में प्रताप सिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके भतीजे महाराजा हरिसिंह काश्मीर के शासक हुए।

महाराज हरिसिंह उदार और कार्यकुशल न थे। इसी समय भारत के अन्य भागो में स्वातन्त्र आन्दोलन काफी जोर पर था जिसके प्रभाव से यह भाग वंचित न रहा। वहाँ आन्दोलन करने के लिए 'नेशनल कान्फ्रेन्स-की स्थापना हुई। जिस प्रकार भारत में काँग्रेस से स्पर्द्धा करने के लिए मुसलिम लीग बनी, उसी प्रकार काश्मीर में नेशनल कान्फ्रेन्स से

स्पर्द्धा करने के लिए मुसलिम कान्फ्रेन्स की स्थापना की गयी। लेकिन नेशनल कान्फ्रेन्स के सामने मुसलिम कान्फ्रेन्स की एक भी दाल न गली।

अगस्त सन् १९४७ में जब भारत और पाकिस्तान बना, पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण करने के लिए कबायलियों को इस उकसाया। इस योजना के पीछे अंग्रेजों का भी हाथ था। काश्मीर अब तक तटस्थ थी अर्थात् काश्मीर के महाराज अभी यह निर्णय नहीं कर पाये थे कि काश्मीर को भारत में अथवा पाकिस्तान में शामिल होना चाहिए। कबायलियों के आक्रमण में पाकिस्तान का हाथ देख कर काश्मीर ने भारत से सहायता माँगी। भारत ने काश्मीर को सहायता देने के लिए एक शर्त रखा। शर्त यह था कि काश्मीर को भारत में सम्मिलित होना पड़ेगा। काश्मीर ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया और महाराज हरिसिंह ने सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर भी कर दिये। भारतीय-सेना काश्मीर पहुँची और पाकिस्तानियों को मार भगाया। लेकिन भारत ने दो गलतियाँ कर दीं—पहली गलती यह थी कि पाकिस्तानियों के मार भगाने के कार्य को अधूरा ही छोड़ दिया, जिसका परिणाम यह है कि काश्मीर के एक भाग पर पाकिस्तान का अब भी अधिकार है। यह भाग 'आज़ाद काश्मीर' कहलाता है। दूसरी गलती यह थी कि भारत काश्मीर के प्रश्न को राष्ट्र-संघ में ले गया जिससे आज पश्चिमी राष्ट्रों को काश्मीर के मामले में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया।

काश्मीर-समस्या का जन्म

इस प्रकार काश्मीर-समस्या का जन्म हुआ। भारत को आशा थी कि राष्ट्र-संघ उसके साथ न्याय करेगा और आक्रामक को उचित दण्ड की व्यवस्था करेगा। लेकिन वहाँ न्याय के स्थान पर अन्याय हो रहा है।

काश्मीर समस्या को सुलझाने के लिए राष्ट्रसंघ ने क्या किया, इसे समझने के पहले वास्तविक तथ्य को जान लेना आवश्यक है। वास्तविक

तथ्य यह है कि (i) पाकिस्तान आक्रामक है। उसने काश्मीर पर आक्रमण किया है। (ii) काश्मीर के एक भाग पर पाकिस्तान का अब भी अधिकार है और वहाँ पाकिस्तानियों की सेना मौजूद है। (iii) जम्मू और काश्मीर ने स्वयं अपने को भारत में मिला दिया है। ४ अप्रैल सन् १९५८ को प्रधान मन्त्री नेहरू ने स्वयं कहा है—"भारत के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो-तीन ऐसी बातें हैं जो वास्तविकतापूर्ण हैं। वे मूलभूत बातें हैं कि पाकिस्तान ने हमला किया है। अतएव उसे अपनी सेनाएँ पीछे हटानी होगी। दूसरी बात यह है कि जम्मू और काश्मीर राज्य ने अपने को भारत में शामिल कर लिया है। यदि यह वास्तविकता स्वीकार कर ली जाय तो अन्य प्रश्नों पर विचार किया जा सकता है।" और तदनुरूप काम भी किया जा सकता है। कुछ स्वार्थपूर्ण राष्ट्रों के हस्तक्षेप के कारण राष्ट्र-संघ इस तथ्यों पर परदा डालती रही है।

राष्ट्र-संघ और काश्मीर

काश्मीर प्रश्न को सुलझाने के लिए राष्ट्र-संघ ने सर्व प्रथम अगस्त सन् १९४८ और जनवरी सन् १९४९ में एक संघीय आयोग भेजा। इस आयोग ने भारत और पाकिस्तान के सम्मुख कुछ प्रस्ताव रखा। इनके प्रस्तावों में मुख्य रूप से जो बात कही गयी थी वह यह थी कि जम्मू-काश्मीर राज्य का भविष्य जनतांत्रिक तरीके से स्वतन्त्र और निष्पक्ष जनमतगणना के आधार पर जनता की इच्छा के अनुकूल निर्धारित करने के बारे में विचार किया जाना चाहिए। भारत ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया लेकिन पाकिस्तान ने असहमति प्रकट कर दी। क्योंकि पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया था। अतः वहाँ का जनमत उसके विरुद्ध था और यदि जनमत-गणना होती तो मतदान पाकिस्तान के विरुद्ध ही होता।

इसके बाद सन् १९५२ में डाक्टर ग्राहम राष्ट्र-संघ के प्रतिनिधि होकर भारत और पाकिस्तान आये। इनके प्रस्ताव की मुख्य विशेषता यह

रही कि इन्होंने काश्मीर में एक संघीय सेना रखने की सिफारिश की थी। इस सिफारिश को भारत ने ठुकरा दिया। भारत का कहना था कि पाकिस्तान ने आक्रमण किया है। भारतीय सेना काश्मीर की प्रार्थना पर भेजी गयी है। अतः पाकिस्तान की सेना को हटनी चाहिए और जब काश्मीर की रक्षा के लिए भारतीय सेना है ही, तो संघीय-सेना भेजने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

डाक्टर ग्राहम के बाद स्वीडिश प्रतिनिधि श्री जारिंग भारत आये। श्री जारिंग ने काश्मीर संबंधी राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रमों को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने कहा कि "काश्मीर की हाल की घटनाओं को व्यापक राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रमों की दृष्टि से आँकना होगा, क्योंकि काश्मीर का समूचा प्रश्न उससे बँधा हुआ है।" श्री जारिंग के इस विचार का विशेष महत्त्व है। क्योंकि यदि राष्ट्र-संघ काश्मीर में जनमत-गणना कराना चाहता है तो उसे राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं और परिवर्तनों पर भी विचार करना पड़ेगा। पाकिस्तान जनमतगणना के लिए अब जोर दे रहा है जिसे उसने सन् १९४८ और सन् १९४९ में अस्वीकार कर दिया था। भारत अब इस जनमतगणना के विरुद्ध है क्योंकि पहले का सा अब वातारण नहीं है। पाकिस्तान अनेक सैनिक गुट बन्दियों में आबद्ध हो चुका है। उसने काफी मात्रा में अमेरिकी सैनिक सहायता ले चुका है।

नवम्बर सन् १९५७ में संघीय प्रतिनिधि डाक्टर ग्राहम को काश्मीर पुनः भेजने का ब्रिटिश अमेरिका प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में रखा गया। प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(i) सुरक्षा परिषद् राष्ट्रीसंघीय प्रतिनिधि डाक्टर ग्राहम को अधिकार देती है कि वह पुनः भारत तथा पाकिस्तान जायँ।

(ii) सुरक्षा परिषद् श्री ग्राहम से अनुरोध करती है कि वे राष्ट्रसंघीय आयोग के १३ अगस्त सन् १९४८ वाले प्रस्ताव को कार्यान्वित कराने के लिए दोनों देशों की सरकारो से वार्ता करें।

(iii) सुरक्षा परिषद् भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों से अपील करती है कि असैनिकीकरण की कार्य प्रणाली पर शीघ्र समझौते के लिए वे राष्ट्रसंघीय प्रतिनिधि से सहयोग करें तथा जो समझौता हो वह तीन महीने के अन्दर कार्यान्वित कर दिया जाय।

(iv) सुरक्षा परिषद् डाक्टर ग्राहम को आदेश देती है कि वे अपने प्रयत्नों की रिपोर्ट सुरक्षा परिषद् को अति शीघ्र दें।

(v) इस बीच भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों से परिषद् का अनुरोध है कि वे ऐसा कोई वक्तव्य न दें अथवा कार्य न करें जिनसे स्थिति को उत्तेजना मिले। उन्हें चाहिए कि वे पूर्ण वार्ता चलाने के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने एवं उसे बनाये रखने में सहायक बने।

भारतीय प्रतिनिधि श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने उक्त प्रस्ताव पर बहस आरम्भ होते ही प्रस्ताव भारत को अमान्य होने की सूचना सुरक्षा परिषद् को दे दी। उन्होंने अपने जोरदार वक्तव्य में कहा—"काश्मीर में जो खूनखराबियाँ हुईं, वहाँ जो विध्वंसात्मक कार्य किये गये, उन सबके लिए पाकिस्तान के वर्तमान परराष्ट्र मन्त्री श्री फीरोज खाँ नून व्यक्तिगत् रूप से तो जिम्मेदार हैं ही, इस दुष्कांड के लिए ब्रिटेन भी कम जिम्मेदार नहीं है। ब्रिटेन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पाकिस्तान को शह देता रहा है। मिश्र पर हुए आक्रमण के बाद भारत ने जो रुख अपनाया उसका बदला ब्रिटेन लेना चाहता है। काश्मीर प्रश्न को हमेशा गलत ढंग से समझने का प्रयास किया गया है जिससे शान्तिपूर्ण समझौता होने में बाधा पहुँच रही है। पाकिस्तान तथा उसके सहयोगी राष्ट्र भारत पर मिथ्या अभियोग लगाकर मूल प्रश्न से लोगों को गुमराह कर रहे हैं। भारत ऐसे किसी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकता जो दुरभि-सन्धि-पूर्ण हो।" प्रस्ताव अमान्य होने के दो मुख्य कारण थे। पहला कारण यह था कि वह काश्मीर पर भारत की प्रभुसत्ता के विपरीत था। भारत ऐसे प्रस्ताव को भारतीय संघ

का एकता पर आक्रमण समझता था। दूसरा कारण यह था कि प्रस्ताव में पाकिस्तान और भारत को एक ही कोटि में रखने का प्रयत्न किया गया था जब पाकिस्तान आक्रामक है। वह भारत की बराबरी नहीं कर सकता।

२१ नवम्बर सन् १९५७ को सुरक्षा परिषद् की बैठक में रूस ने ब्रिटिश अमेरिकी प्रस्ताव पर वीटो के प्रयोग की सूचना दे दी। वीटो की सूचना देते समय रूसी प्रतिनिधि सोवोलोव ने प्रस्ताव पर जो अपना विचार व्यक्त किया, वह इस प्रकार था—"पाँच राष्ट्रों ने जो प्रस्ताव रखा है उसमें केवल पाकिस्तान की ही बातों का पक्ष लिया गया है। संघीय घोषणापत्र के सिद्धान्त के घोर विरुद्ध यह कार्य हुआ है। पश्चिमी राष्ट्र काश्मीर समस्या का उपयोग अपनी राजनीतिक योजनाओं के लिए करने लगे हैं और एक पक्ष के सिर सर्वथा अमान्य निर्णय लादने चले हैं। पश्चिमी राष्ट्रों ने परिषद् से समझौता-मण्डलों की एक शृंखला चलवा रखी है जो मूल प्रश्न से ही दूर ले जाने का काम करते रहे हैं। फलतः परिषद् में निरर्थक ढंग की बहसें चल पड़ी और इधर ब्रिटेन और अमेरिका काश्मीर में सामरिक दृष्टि से प्रवेश का द्वार खोलने की घात में संलग्न रहे। बड़े परिमाण में पश्चिमी राष्ट्र ने पाक को जो सैनिक सहायता प्रदान की है उससे उनकी यह भावना प्रकट हो गई है कि वे काश्मीर को 'सुरक्षित-सैनिक गढ़' बनाना चाहते हैं। आणुविक शस्त्रास्त्रों से पाकिस्तान को सम्पन्न किया जाना, जेट विमानों का अड्डा-निर्माण और काश्मीर को गढ़ बनाने की चेष्टा ने भारत-पाक सम्बन्ध को भी जटिल बना दिया और काश्मीर समस्या का हल तो और भी कठिन हो गया है।" उक्त वक्तव्य से ब्रिटिश-अमेरिकी चाल का पता चलता है जो सत्य है।

२७ नवम्बर सन् १९५७ को स्वीडेन ने प्रस्ताव में संशोधन उपस्थित किया। संशोधन का मुख्य लक्ष्य था कि प्रस्ताव के चरितार्थता वाले अंश में दबाव डालने वाला स्वर हट जाय ताकि प्रस्ताव पाकिस्तान और भारत

को स्वीकार हो और रूसी वीटो की सम्भावना न हो। ३ दिसम्बर को यह संशोधित प्रस्ताव १० मतों से स्वीकृत हो गया। रूस ने मतदान में भाग नही लिया। भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्ण मेनन ने भारत की ओर से इस प्रस्ताव को भी नामंजूर कर दिया। उन्होंने कहा कि—"भारत सरकार ने केवल १७ जनवरी सन् १९४८ के प्रस्ताव को स्वीकार किया है। अन्य दो प्रस्तावों में भी भारत सरकार को फँसा रखा गया है। हम केवल एक ही प्रस्ताव को मंजूर कर सकते हैं जिसमें कहा जाय कि आक्रमणकारी काश्मीर से हट जायँ। इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के बाद ही आगे की बात सोच सकते हैं।"

१२ जनवरी सन् १९५८ को डाक्टर ग्राहम दिल्ली पहुँचे। पहले दिल्ली और बाद में कराची में शीर्षस्थ नेताओं से वार्ता कर उन्होंने पंच-सूत्रीय सुझाव रखा।

(१) भारत और पाकिस्तान घोषित करें कि वे शांतिपूर्ण वातावरण बनाये रखेंगे जो विवाद के शांत समाधान में सहायक होगा।

(२) भारत और पाकिस्तान को यह भी घोषित करना चाहिए कि युद्ध-बन्दी पंक्ति के पार वे किसी भी प्रकार की शत्रुतापूर्ण कार्रवाई नहीं करेंगे।

(३) भारत और पाकिस्तान के लिए राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधि डाक्टर ग्राहम को दोनों सरकारों के परामर्श से यह अध्ययन करना चाहिये कि १३ अगस्त सन् १९४८ के सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के तृतीय अंश को कैसे कार्यान्वित किया जाय। प्रस्ताव का आशय था कि दोनों सरकारें चाहती हैं कि जम्मू-काश्मीर राज्य का सौभाग्य निर्णय वहाँ की जनता करे और राष्ट्रसंघ की देख-रेख में निष्पक्ष जनमत संग्रह करने के लिए दोनों देशों की सरकारें सहमत हों।

(४) काश्मीर के जिस भाग पर पाकिस्तान ने बलात् अधिकार कर लिया है और जिसे राष्ट्रसंघ के प्रस्तावानुसार पाकिस्तान को खाली करना

है उसकी सुरक्षा के लिए भारतीय चिन्ता को दृष्टिगत रख उस क्षेत्र में राष्ट्रसंघ की सेना रखनी चाहिए।

(५) डाक्टर ग्राहम के तत्वाधान में दोनों सरकारों के प्रधानों की यथा-शीघ्र बैठक होनी चाहिए।

डाक्टर ग्राहम के सुझाव में काश्मीर क्षेत्र में बदली हुई परिस्थितियों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। पाकिस्तान ने इस सुझाव का स्वागत किया क्योंकि वह संघीय सेना काश्मीर क्षेत्र में रखना चाहता था और अब (सन् १९४८ में नहीं) जनमत गणना कराना चाहता था। भारत ने इस सुझाव को नामंजूर कर दिया। उसने शुरू से ही श्री ग्राहम के आगमन को कोई महत्व नहीं दिया था। जहाँ तक संघीय सेना रखने और जनमतगणना कराने का प्रश्न है, भारत ने अपनी नीति पहले ही स्पष्ट कर दी है। ४ अप्रैल '५८ को श्री नेहरू ने कहा कि—"प्रभुसत्ता सम्पन्न पाकिस्तान को अधिकार है कि वह अपनी सीमा के भीतर राष्ट्रसंघीय सेना को उतरने की अनुमति दे। किन्तु भारत की दृष्टि में यह प्रस्ताव सही नहीं है।" ९ सितम्बर '५७ को श्री कृष्ण मेनन ने कहा था कि—"संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा भेजी गयी किसी सेना को हमारे शरीर को रौंदकर जाना पड़ेगा। हम संयुक्त राष्ट्रसंघ को यह मानने का मौका न देंगे कि हमारी प्रभुसत्ता का निपटारा मतगणना द्वारा किया जा सकता है।" काश्मीर में जनमतगणना का प्रश्न अब उठता ही नहीं क्योंकि सन् १९४८ की स्थिति और आज की स्थिति में काफी परिवर्तन हो चुका है। भारत ने सन् १९४८ में जब मतगणना का प्रस्ताव रखा तो पाकिस्तान ने अस्वीकार कर दिया। लेकिन अब पाकिस्तान कई सैनिक-सन्धियों में शामिल हो चुका है तथा अमेरिकी सैनिक सहायता से अपनी सैनिक शक्ति को काफी बढ़ा ली है। कनाडा के प्रधान मन्त्री श्री डिफेनबेकर ने १४ नवम्बर सन् १९५८ को स्वयं कहा है—"संघीय सुरक्षा परिषद् के भूतपूर्व कनाडियन अध्यक्ष श्री मैकनाटन ने १० साल पूर्व काश्मीर समस्या के हल के लिए जब जनमतगणना का

सुझाव दिया था तब से विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया है।" भारत ने प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन के सुझाव को भी यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि आक्रामक और आक्रान्त को एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता।

२७ अक्टूबर सन् १९५८ को पाकिस्तान में सैनिक-क्रान्ति हुई और जरनल अयूब खाँ नये राष्ट्रपति बनाये गये। २८ दिसम्बर '५८ को चटगाँव की एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने धमकी दी कि काश्मीर पाकिस्तान के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है और उसे मुक्त करने के लिए सर्वस्व की बाजी लगा देंगे। भारत के लिए इन धमकियों का कोई विशेष महत्व नहीं है लेकिन एक सैनिक अधिकारी के मुख से ऐसी बातों का निकलना खतरे की अवश्य बात है। इस मामले में भारत पाकिस्तान से पहले की अपेक्षा अधिक सतर्क है।

काश्मीर और शेख अब्दुल्ला

काश्मीर समस्या के प्रसंग में काश्मीर के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री शेख अब्दुल्ला के उत्थान और पतन पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। शेख अब्दुल्ला काश्मीर के प्रथम प्रधान मन्त्री थे। आपने भारत में कई बार भ्रमण किया और अनेक भाषण दिये। धीरे-धीरे आप काफी लोक-प्रिय हो गये। आप बराबर पं० नेहरू के साथ रहते थे और सार्वजनिक सभाओं में भाषण देते थे। आप पं० नेहरू का दाहिना हाथ कहलाने लगे। कुछ लोग आपको शेरे काश्मीर भी कहते थे। समय ने पलटा खाया। आप स्वतंत्र काश्मीर का स्वप्न देखने लगे और काश्मीर को स्वयं हड़पने की योजना बनाने लगे। भारत को इस गुप्त योजना का पता चल गया और शेख अब्दुल्ला सन् १९५३ में कुड जेल में नजरबन्द कर दिये गये।

८ जनवरी सन् १९५८ को शेख अब्दुल्ला रिहा कर दिये गये। जेल से मुक्त होने के बाद शेख अब्दुल्ला ने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट किया।

सन् १९५१ में शेख अब्दुल्ला ने स्वय संविधान सभा में कहा था कि यही सभा काश्मीर के भविष्य का निर्णय करेगी। वही शेख अब्दुल्ला की दृष्टि में अब संविधान सभा का कोई अस्तित्त्व ही न रहा। उन्होंने काश्मीर में हिंसा और अशांति फैलाने के लिए उत्तेजनात्मक भाषण देने लगे। सन् १९५३ के पूर्व स्वय शेख अब्दुल्ला ने ही कहा था कि भारत और काश्मीर का अटूट सम्बन्ध है और काश्मीर का भारत में विलय अन्तिम रूप से हो चुका है। लेकिन उन्होंने अब भारत पर आरोप लगाना आरम्भ कर दिया और विलय के निर्णय को अवैध करार दिया।

२१ फरवरी '५६ को काश्मीर से ७ मील दूर हजरत बालकी कब्रगाह के धार्मिक मेले पर शेख अब्दुल्ला ने एक धर्मोत्तेजक भाषण दिया। उन्होंने एक राष्ट्रीय घोषणा भी की जिसमें तीन बातें थीं, (१)—काश्मीर का भविष्य अभी निश्चित नहीं हुआ है, (२) काश्मीर प्रश्न को लेकर भारत पाकिस्तान में जो तनातनी है, वह काश्मीरी जनता के लिए खतरनाक है और (३) अन्तरराष्ट्रीय देख-देख में काश्मीर में जनमत संग्रह किया जाय। इन भाषणों के फलस्वरूप काश्मीर में उपद्रव हुआ जिसमें नेशनल कान्फ्रेन्स के ३० से अधिक स्वयंसेवक घायल हुए और एक की मृत्यु भी हो गयी। इस प्रकार शेख अब्दुल्ला की आज़ादी से काश्मीर की शांति और सुरक्षा के लिए भारी खतरा पैदा हो गया। अन्त में २९ अप्रैल सन् १९५८ को शेख अब्दुल्ला को पुनः गिरफ्तार करना पड़ा।

आजकल उन पर राज्य की ओर से अभियोग चल रहा है।

पश्चिमी राष्ट्र और काश्मीर

पश्चिमी राष्ट्रों के हस्तक्षेप के कारण ही काश्मीर का प्रश्न अभी तक उलझा हुआ है। काश्मीर की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। काश्मीर से मिले हुए अनेक देश हैं। पश्चिमी राष्ट्र जो साम्यवाद का कट्टर विरोधी है, काश्मीर पर आधिपत्य स्थापित कर सुदूर पूर्व में साम्यवाद के प्रसार को रोक सकता है। भारत, बर्मा, लंका, इन्डोनेशिया आदि की स्वतन्त्रता

की सहायता देकर पाकिस्तान को अपने प्रभाव में रखना चाहते है ताकि आवश्यकता पड़ने पर रूस विरोधी अड्डे पाकिस्तान में बनाये जा सकें।

ब्रिटेन का भारत से अप्रसन्न होने का एक कारण है। मिश्र पर फ्रान्स और ब्रिटेन ने जो आक्रमण किया था उसका भारत ने कड़ा विरोध किया था। मिश्र पर हुए आक्रमण के बाद भारत ने जो रुख अपनाया उसको ब्रिटेन भूल नहीं सका है। अतः वह इस ढंग का प्रस्ताव रखता है जो भारत की भावना के प्रतिकूल रहता है।

ब्रिटेन को कम-से-कम इस समस्या में निष्पक्ष रहना चाहिए। जैसा कि श्री कृष्ण मेनन ने २५ दिसम्बर '५७ को कहा है—"सीमा का प्रश्न ब्रिटेन भारत और पाकिस्तान के त्रिदलीय समझौते के आधार पर स्थिर हो चुका है। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन पर न्यायिक और नैतिक कर्तव्य भार है, कारण निबटारे के समय एक पक्ष के रूप में वह भी उपस्थित था। यदि अब वह उस निबटारे को चुनौती देता है तो इसका मतलब उस सम्पूर्ण आधार को ही चुनौती देने जैसा हो जाता है जिस पर भारत सरकार स्थापित हुई।" ब्रिटिश मज़दूर दल के नेता श्री गेट्सकेल ने २० दिसम्बर '५७ को कराची में पत्रकारों की गोष्ठी में स्वयं कहा है कि—"मेरे विचार में ब्रिटिश सरकार को भारत-पाक के बीच के काश्मीर विषयक विवाद में किसी का पक्ष नहीं लेना चाहिए।" फिर, भारत और पाकिस्तान दोनों राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं। अतः ब्रिटेन को एक सदस्य का उपयोग दूसरे के विरुद्ध नहीं करना चाहिए।

वर्तमान स्थिति

काश्मीर अन्तिम रूप से भारत में मिल चुका है। वह अब भारत का एक अंग बन गया है। काश्मीर की समस्या अब वस्तुतः भारत की स्वतन्त्रता की समस्या है। पं० नेहरू ने स्वयं कई बार कहा है कि काश्मीर

पर किया गया आक्रमण भारत पर आक्रमण समझा जायगा। श्री वी० के० कृष्ण मेनन के शब्दों में "काश्मीर उसी प्रकार भारत का अंग है जिस प्रकार यहाँ का कोई राज्य। संसार को यह समझ लेना चाहिए कि भारत अपनी सार्वभौम सत्ता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप सहन न करेगा।" जम्मू-काश्मीर के मुख्य मन्त्री बख्शी गुलाम मुहम्मद ने २६ जनवरी '५८ को गणतन्त्र दिवस पर भाषण करते हुए घोषित किया कि—"भारत में काश्मीर के सम्मिलन के विरुद्ध कुछ भी षड्यन्त्र क्यों न किया जाय काश्मीर का भारत में सम्मिलन अन्तिम और अटूट है। काश्मीर का भारत में सम्मिलन सम्बन्धी निश्चय ऐतिहासिक तथ्य है। विश्व का तीन-चौथाई भाग इसे स्वीकार कर चुका है। हम भारत के अंग हैं और भारत के नागरिक की भाँति हम अपने देश की स्वतन्त्रता तथा अखण्डता की रक्षा करने के लिए कृत संकल्प हैं। जनमत-गणना का नारा काश्मीर की समस्या और जटिल बनाने के लिए लगाया जा रहा है किन्तु हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि कुछ भी नारा क्यों न लगाया जाय, जन-मतगणना नहीं हो सकती। हम सुरक्षा परिषद् के कुछ सदस्यों, लन्दन अथवा ह्वाइट हाल को प्रसन्न करने के लिए ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकते। सम्मिलन का निर्णय १९४७ में किया जा चुका है और अब वह सदा के लिए कायम रहेगा। हम यह नारा केवल बनिहाल अथवा किसी साधारण चोटी से ही नहीं लगा रहे हैं प्रत्युत एवरेस्ट के शिखर से हम यह चिल्ला कर कह रहे हैं।"

राष्ट्रसंघ अगला क़दम क्या उठायेगा यह भविष्य ही बतला सकता है।

हंगरी (Hungary)

हंगरी की क्रान्ति प्रजातन्त्र की ओर एक नया कदम था। क्रान्ति द्वारा विदेशी प्रभाव को समाप्त करने का यह एक प्रयत्न था। पं० नेहरू के शब्दों में हंगरी की क्रान्ति एक घरेलू संघर्ष (Civil Strife) था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद से बड़े राष्ट्रों में विदेशों में अपनी सेना रखने की एक प्रवृत्ति सी आ गयी है। यही बात रूस के बारे में भी कहा जा सकता है। द्वितीय महायुद्ध में योरप के पूर्वी देशों में सोवियत रूस के सैनिक अड्डे बन गये थे। १४ मई सन् १९५५ को वारसा-सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत अन्य राष्ट्रों की तरह पोलैण्ड और हंगरी को सोवियत रूस की सेनायें रखने का निश्चय हुआ। पोलैण्ड में सर्वप्रथम राज्य-विप्लव हुआ। कुछ लोगों ने प्रजातन्त्र सरकार की माँग की। वे दबा दिये गये। पोलैण्ड का विप्लव अभी समाप्त ही नहीं हुआ था कि हंगरी में विप्लव आरम्भ हुआ। शासन की बागडोर को हस्तगत करने के लिए दो दल लड़ रहे थे। एक हंगरी के भूत पूर्व प्रधान मन्त्री श्री इमरे नागी का पक्ष कर रहा था, दूसरा कम्यूनिस्ट प्रभाव को नष्ट कर प्रजातन्त्र की स्थापना चाहता था। २४ अक्टूबर सन् १९५६ को श्री इमरे नागी विजयी हो गये और हंगरी का प्रधान मन्त्री बन गये। हंगरी का प्रधान मन्त्री होते ही श्री इमरे नागी ने २४ अक्टूबर सन् १९५६ को सम्पूर्ण देश में मार्शल-ला घोषित कर आस्ट्रिया की सीमा को बन्द कर दिया तथा क्रान्तिकारियों को दबाने के लिए सोवियत रूस की सेना को आमन्त्रित किया। साथ ही साथ उसने बुडापेस्ट रेडियो से राज्यक्रान्ति को समाप्त करने की अपील भी की।

२६ अक्टूबर को प्रधान मन्त्री श्री इमरे नागी ने वचन दिया कि नये वर्ष के प्रथम दिन तक रूसी सेनायें हटा ली जायँगी। उन्होंने यह भी घोषणा की कि यदि विद्रोही रात १० बजे तक अपने शस्त्र रख दें तो उन लोगों से समझौता कर लिया जायगा। इस समय तक हंगरी में सैकड़ों व्यक्ति मर चुके थे और हजारों घायल हो चुके थे। २६ अक्टूबर को हंगरी समस्या को संयुक्त राष्ट्रसंघ में पेश करने के लिये अमेरिका ने ब्रिटेन और फ्रान्स से वार्तालाप की।

२९ अक्टूबर को हंगरी के परराष्ट्र विभाग तथा क्रान्तिकारियों में

एक समझौता हो गया जिसके अनुसार हंगरी का क्रान्तिकारी वर्ग अपने शस्त्र हंगरी के सैनिकों को समर्पण कर देगा और उसके बाद ही २४ घन्टे के भीतर सोवियत रूस अपनी सेना वापस बुला लेगा।

३० अक्टूबर को सोवियत रूस ने अपनी सेना को रूमानिया, पोलैण्ड और हंगरी से हटा लेने की घोषणा की। लेकिन वह अपनी सेना तभी हटायेगी जब वारसा-सन्धि के सभी सदस्य राष्ट्र संयुक्त रूप से यह निश्चय करें।

२ नवम्बर तक रूसी सेनाओं ने राजधानी बुडापेस्ट को चारों तरफ से घेर लिया। सुरक्षा परिषद् ने अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रान्स के प्रार्थना पर हंगरी समस्या पर विचार करना निश्चय किया। सोवियत रूस ने इस प्रस्ताव का विरोध किया।

४ नवम्बर को रूसी सेनाओं के हटाने के संबंध में रूसी सेना के अधिकारियों तथा श्री इमरे नागी के बीच समझौता का प्रयत्न आरम्भ हुआ। समझौते में यह निश्चय हुआ कि रूसी सेना की अन्य कोई टुकड़ी हंगरी में प्रवेश नहीं करेगी। अभी समझौता चल ही रहा था कि रूसी सैनिकों ने इमरे नागी तथा उनके सहयोगी मन्त्रियों को गिरफ्तार करके किसी गुप्त स्थान को भेज दिया और उनके स्थान पर श्री जनोस कादार को जो हंगरी के कम्यूनिस्ट पार्टी के महामन्त्री थे, प्रधान मन्त्री बनाया।

४ नवम्बर को ही अमेरिका ने हंगरी के आन्तरिक मामलों में सोवियत रूस द्वारा किये गये हस्तक्षेप को रोकने के लिए सुरक्षा परिषद् में एक प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव पर रूस ने अपने विशेषाधिकार (वीटो) का प्रयोग किया जिससे प्रस्ताव पास न हो सका। इसके बाद ही अमेरिका ने महासमिति की आवश्यक बैठक के लिए प्रार्थना की।

५ नवम्बर को राष्ट्रसंघ के महासमिति की आवश्यक बैठक हुई जिसमें अमेरिका का यह प्रस्ताव कि सोवियत रूस हंगरी पर हो रहे आक्र-

मण को रोके तथा अपनी सारी सेनाओं को अविलम्ब वापस बुला ले, बहुमत द्वारा पास हो गया। प्रस्ताव के पक्ष में ५३ मत तथा विपक्ष में ८ मत आये। १५ राष्ट्रों ने मतदान में भाग नहीं लिया। तटस्थ राष्ट्रों में अधिकांश अफ्रीकी और एशियाई राष्ट्र थे। महा समिति ने महा मन्त्री श्री डॉग हैमर शेल्ड से यह भी अनुरोध किया कि वह पर्यवेक्षक नियुक्त कर हंगरी की स्थिति का छानबीन करें तथा विदेशी हस्तक्षेप को समाप्त करने के उपाय बतावें।

महासमिति के इस निर्णय के फलस्वरूप श्री डाग हैमरशेल्ड ने पाँच सदस्यीय जाँच आयोग नियुक्त किया और उनसे कहा गया कि वे हंगरी जाकर वस्तुस्थिति की जाँच करके महासमिति को शीघ्र अपना रिपोर्ट दें।

जून सन् १९५७ में जाँच आयोग ने १५००० शब्दों की एक रिपोर्ट समर्पित कर दी। उस पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ का विशेष अधिवेशन बुलाना आवश्यक था। एतदर्थ १० सितम्बर सन् १९५७ मंगलवार को महासमिति की विशेष बैठक हुई। हंगरी के एक प्रतिनिधि डाक्टर माड ने हंगरी के आन्तरिक मामलों में राष्ट्रसंघीय हस्तक्षेप के विरुद्ध एक नव सूत्रीय तर्क रखा—

(१) राज्य-विप्लव का उद्देश्य हिंसा से वैधानिक सरकार को उलटना और पुरानी तानाशाही शासन व्यवस्था को स्थापित करना था।

(२) पश्चिमी सामाज्यवादी शक्तियों ने इस प्रतिक्रान्ति राज्य-विप्लव का श्रीगणेश किया और उसे चालू रखा।

(३) इस प्रतिक्रान्ति आन्दोलन के नेता भूतपूर्व सामंतवादी अमीर और विशेष सुविधा प्राप्त वर्गों के सदस्य हैं जो अपने विशेष सुविधाओं से वंचित कर दिये गये हैं।

(४) इस सशस्त्र राज्यविप्लव को ईमरे नागी और उनके दलवालों का अवैधानिक और विश्वासघाती समर्थन मिला।

(५) सरकार ने राज्यविप्लव के समय और बाद में जो भी कार्रवाइयाँ की वे विधानानुकूल थीं।

(६) हंगरी सरकार पर जो अन्तरराष्ट्रीय दायित्व था उसने उसे यह अधिकार प्राप्त था कि वह तानाशाही को फिर न पनपने का मौका दे।

(७) तानाशाही को न पनपने देने के लिए राष्ट्रसंघ की घोषणापत्र से भी हंगरी की सरकार को यह दायित्व प्राप्त था।

(८) अन्तरराष्ट्रीय दायित्व और वैधानिकता की दृष्टि से क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ताओं की प्रतिक्रान्ति राज्यविप्लव के विरुद्ध हंगरी की सरकार ने कदम उठाया। हंगरी ने वारसा के समझौते के अनुसार रूसी सरकार से अपने सैनिक हंगरी भेजने का अनुरोध किया।

(९) विशेष समिति ने हंगरी का जो विकृत चित्र उपस्थित किया है वह गलत है। सच बात यह है कि हंगरी की सरकार और जनता ने देश में पुनः वैधानिक और कानूनी सरकार की स्थापना कर दी है। हंगरी की आर्थिक स्थिति अब दृढ़ हो गयी है और वहाँ का राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन पूर्ववत् हो गया है।

इसके बाद श्री माडेने ने हंगरी के नाम से बने कई संघटनों के नाम बताये जिसमें अमेरिकी तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के गुप्तचर लोग कार्य कर रहे हैं। अतः उन्होंने अनुरोध किया कि राष्ट्रसंघ हंगरी के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे।

श्री माड्ने के भाषण कर चुकने के बाद ३७ राष्ट्रों की ओर से एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया। प्रस्ताव के दो अंग थे—प्रथम अंग में था कि राष्ट्रसंघ के वर्तमान अध्यक्ष श्री वान् वैथयाकोन बुडापेस्ट तथा मास्को जायँ और हंगरी की स्थिति की जाँच कर वहाँ चल रही दमन-नीति के अन्त का मार्ग ढूँढ़ निकालें। दूसरे अंग में हंगरी में जो कुछ हुआ उसके लिए रूस को दोषी ठहराते हुए उसकी निन्दा की गयी थी। चार दिन के विचार-विमर्श के बाद १३ सितम्बर को अन्ततः रूस की

निंदा का प्रस्ताव १० के विरुद्ध ६० मतों से पास हो गया। प्रस्ताव के विरुद्ध अल्बानिया, बल्गेरिया, रूस, चेकोस्लावाकिया, हंगरी, पोलैण्ड रूमानिया, यूक्रेन, बाइलो रूस और यूगोस्लविया ने मत दिया। भारत, अफ़गानिस्तान, लंका, मिश्र, हिन्देशिया, फिनलैण्ड, नेपाल, सऊदी अरब, सीरिया और यमन तटस्थ रहे।

प्रस्ताव पर मत लेने के पूर्व बर्मा ने दो संशोधन पेश किया था। पहला, संशोधन यह था कि 'निंदा करना' शब्द के स्थान पर 'खेद प्रकट करना' शब्द रखा जाय। दूसरे संशोधन में कहा गया था कि अध्यक्ष राजकुमार वान को उचित रूप में हंगरी समिति से परामर्श कर लेना चाहिए। बर्मा के ये दोनों संशोधन अस्वीकृत रहे।

हंगरी के मामले में राष्ट्रसंघ ने जाँच समिति की रिपोर्ट को आधार मानकर रूस की जिस सरलता से भर्त्सना की गयी, उससे न तो स्थिति सुधरी और न शान्ति स्थापना का मार्ग ही प्रशस्त हो सका। केवल तनातनी में वृद्धि हुई, रिपोर्ट तथ्य पर आधारित थी यह कहना भी कठिन है क्योंकि राष्ट्रसंघ ने जो जाँच समिति नियुक्त की थी, उसने हंगरी न जाकर केवल हंगरी से भागे हुए शरणार्थियों से बयान लिया था। प्रस्ताव कितना कड़ा अथवा अवांछनीय था, इसका पता इस बात से चलता है कि जाँच समिति के सदस्य लंका ने उक्त प्रस्ताव पर हुए मतदात में भाग लेना उचित नहीं समझा। एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों द्वारा रूस की भर्त्सना में योगदान न करना यह बताता है कि ये राष्ट्र राष्ट्रसंघ की भर्त्सना-प्रस्ताव को न्याय प्रेरित और निष्पक्ष नहीं समझते।

भारत हंगरी के विप्लव को सदा एक घरेलू संघर्ष समझता रहा है। वह विदेशी हस्तक्षेप का विरोध करता है पर हंगरी में रूसी सेना की उपस्थिति पर आश्चर्य प्रकट नहीं करता क्योंकि वारसा की सन्धि के अनुसार सोवियत रूस को हंगरी में सेना रखने का पूरा अधिकार

है। यही कारण है कि १३ सितम्बर सन् १९५७ को जो हंगरी-समस्या पर चल रहे विवाद का चौथा दिन था, भारतीय प्रतिनिधि श्री आर्थर लाल ने रूस की भर्त्सना के लिए ३७ राष्ट्रों द्वारा रखे गये प्रस्ताव की आलोचना की और यह सुझाव रखा कि वस्तुस्थिति का अध्ययन करने के लिए महामन्त्री श्री हैमरशेल्ड बुडापेस्ट जायँ। भारतीय प्रतिनिधि ने आयरलैण्ड द्वारा रखे गये इस सुझाव का समर्थन किया कि योरप से रूस और अमेरिका अपनी-अपनी सेनाएँ हटा लें। भारत राष्ट्रों की स्वतन्त्रता, विदेशी सेना के हटाये जाने और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र को सार्वभौम सत्ता में हस्तक्षेप न करने की नीति को अपनाता है।

हंगरी संबंधी महासमिति के निर्णय को सुनते ही हंगरी ने घोषित किया कि वह अध्यक्ष श्री वैथयाकोन अथवा महामन्त्री श्री हैमरशेल्ड का स्वागत करने के लिए तैयार है किन्तु राष्ट्र-संघीय प्रतिनिधि के रूप में नहीं, व्यक्तिगत रूप में। अनेक प्रयत्न करने के पश्चात् राष्ट्र-संघ के अध्यक्ष श्री वैथयाकोन का हगरी जाना निश्चित हुआ।

श्री वान वैथयाकोन ने जिन्हें सयुक्त राष्ट्र-संघ की ओर से हंगरी की वस्तुस्थिति की जाँच करके रिपोर्ट देने के लिए कहा गया था, ४ दिसम्बर सन् १९५७ को सूचना दी कि हंगरी और रूस से आवश्यक सहायता न मिलने के कारण उनका मिशन पूर्णतया असफल रहा। श्री वैथयाकोन ने बताया कि हगरी के परराष्ट्र मन्त्री श्री इमरे हर्वाथ से कई लिखित प्रश्न पूछे गये लेकिन उन्होंने किसी का भी उत्तर नहीं दिया। दूसरी ओर सोवियत रूस के परराष्ट्र मन्त्री श्री इन्द्रे ग्रोमिको ने हंगरी पर विचार विमर्श करना ही अस्वीकार कर दिया क्योंकि राष्ट्र-संघ द्वारा विशेष प्रतिनिधि की नियुक्ति रूस की दृष्टि में अवैधानिक कार्य है।

जून '५८ में हंगरी के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री इमरे नागी और उनके साथियों को फाँसी की सजा दे दी गयी। उन पर यह आरोप

लगाया गया था कि उन लोगों ने देश और जनता को धोखा दिया है, हंगरी में सशस्त्र प्रतिक्रान्ति को उभाड़ा और उसे आरम्भ किया है। इसकी प्रतिक्रिया विशेषतया अमेरिका में हुई। नागी की फाँसी पर टीका करते हुए राष्ट्रपति आइसनहावर ने कहा कि—"इस प्रकार की कोई भी चीज जिससे समस्त स्वतन्त्र संसार को धक्का लगता है, समझौते के लिए हानिप्रद है।"

११ दिसम्बर सन् १९५८ को ब्रिटेन, अमेरिका और ३४ अन्य राज्यों की तरफ से रूस और हंगरी की निन्दा का प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव में रूस और हंगरी पर यह आरोप लगाया गया था कि इन राज्यों ने महासमिति के प्रस्ताव की अवहेलना की है। प्रस्ताव में माँग की गयी थी कि न्यूजीलैण्ड के सर लेसली मुनरो को हंगरी की स्थिति जाँचने और उस पर रिपोर्ट देने के लिए भेजा जाय।

यह प्रस्ताव १२ दिसम्बर को ३७ मतों से पास हो गया। भारत तटस्थ रहा। हंगरी की स्थिति पर रिपोर्ट देने के लिए महासमिति ने श्याम के पिस-वान बैथायाकोन के स्थान पर विश्व समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष सर लेसली मुनरो को नियुक्त किया।

हंगरी के उप परराष्ट्र मन्त्री ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उन्होंने कहा कि यदि नाटो राष्ट्र अपनी आक्रामक छोड़ दें तो हंगरी से रूसी सेनाएँ हटा ली जायगी। उन्होंने हंगरी की स्थिति के निरीक्षण के लिए राष्ट्रसंघ के महामन्त्री श्री डाग हैमरशेल्ड को हंगरी आमन्त्रित किया।

अल्जीरिया (Algeria)

उत्तरी अफ्रीका स्थित फ्रेंच उपनिवेश ट्यूनीशिया और मोरक्को तो फ्रांस के नियन्त्रण से मुक्त हो गये। लेकिन अल्जीरिया अब भी फ्रेंच नियन्त्रण में है। अल्जीरिया को अपने अधिकार में बनाये रखने के लिए फ्रेंच सत्ताधिकारी जी तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं लेकिन अल्जीरियाई राष्ट्र-

वादियों के संघर्ष के कारण उनका प्रयत्न विफल होता दिखाई दे रहा है। पाँच शीर्षस्थ विद्रोही नेताओं को गिरफ्तार कर फ्रान्स ने समझौते के सभी शांतिमय उपायों पर पानी फेर दिया था। ये विद्रोही नेता २२ अक्टूबर सन् १९५६ को ट्यूनीशिया जा रहे थे और अल्जीरिया के प्रश्न पर ट्यूनीशिया के प्रधान मन्त्री श्री हबीब बोरगिबा और मोरक्को के सुल्तान श्री मुहम्मद बेन यूसुफ के बीच होने वाली वार्ता में भाग लेना चाहते थे।

नेताओं की गिरफ्तारी ने सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में हलचल मचा दी। ट्यूनीशिया और मोरक्को में हड़ताल की गई। कई स्थानों पर उपद्रव हुए जिसमें अनेक योरपीय घायल हुए। उसकी प्रतिक्रिया मध्यपूर्व में भी हुई। इस गिरफ्तारी से फ्रान्सीसी सरकार को कोई लाभ न हुआ। फ्रान्स और मोरक्को में सुसंबंध के आधार निर्धारित करने के लिए दोनों देशों में जो वार्ता चल रही थी, वह बन्द हो गयी। ट्यूनीशिया ने पेरिस से अपना राजदूत वापस बुला कर सभी कूटनीतिक संबंध तोड़ दिया। मोरक्को ने नेताओं की गिफ्तारी के संबंध में अपना विरोध पत्र भेजा। अरब राष्ट्रों ने भी इस गिरफ्तारी का विरोध किया और हड़तालें मनायीं।

अल्जीरिया में किये जाने वाले राजनीतिक सुधार का प्रारूप ११ सितम्बर सन् १९५७ को फ्रान्सीसी मन्त्रिमण्डल में पेश किया गया। प्रस्तावित योजनानुसार अल्जीरिया ६ संत्रीय क्षेत्रों में विभाजित होता जिसमें प्रत्येक क्षेत्र की अपनी सरकार और असेम्बली सदस्य ६वीं क्षेत्रीय संसदों द्वारा चुने जाते। सेना, पुलिस, न्याय, कूटनीति जैसी प्रभुसत्ताएँ पेरिस संसद में न्यस्त होतीं। ३० सितम्बर को 'अल्जीरियाई सुधार विधेयक' के प्रश्न पर फ्रान्सीसी सरकार संसद में पराजित हो गयी, जिसके फलस्वरूप प्रधान मन्त्री श्री मनौरी की सरकार को त्यागपत्र देना पड़ा। विधेयक के स्वीकृत होने से फ्रान्स को यह भय था कि सम्पूर्ण अल्जीरिया

के लिए केन्द्रीय असेम्बली निर्धारित होने से अनुदार दलवालों को वहाँ स्वतन्त्रता आन्दोलन उग्र करने का अवसर मिल जायगा।

२५ नवम्बर सन् १९५७ को अल्जीरियाई राष्ट्र-वादी आन्दोलन के नेता श्री मोले मरबा ने अल्जीरियाई जनता पर होने वाली यातनाएँ तथा फ्रान्सीसी बर्बरता को अन्त करने के लिए राष्ट्र-संघ के महामन्त्री के पास एक पत्रक भेजा जिसमें तीन सुझाव रखे गये थे :—

(१) युद्ध विराम समझौते की शर्तें स्थिर करने के लिए अल्जीरिया और फ्रान्स में वार्ता हो।

(२) अल्जीरिया के लिए एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न संविधान सभा का निर्वाचन हो।

(३) दोनों देशों का भावी आपसी सम्बन्ध स्थिर करने के प्रश्न पर उभय देशों के निर्वाचित प्रतिनिधि वार्ता करें।

राष्ट्रपति होने के पूर्व जनरल दे गाल ने आश्वासन दिया था कि फ्रान्स में उनका आधिपत्य स्थापित होने के बाद अल्जीरिया में एक राष्ट्रवादी सरकार बनायी जायगी। १ जून '५८ को फ्रान्स में दे गाल-मन्त्रि-मण्डल बना। २९ सितम्बर '५८ जनरल दे गाल विधिवत फ्रान्स के राष्ट्रपति भी चुन लिये गये, लेकिन अभी तक अल्जीरियाई समस्या का कोई हल नहीं हो पाया है। फ्रान्सीसी दमन जारी है। पश्चिमी राष्ट्रों के प्रतिकूल रुख के कारण यह समस्या संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी उपस्थित नहीं हो पाया है।

अफ्रीका (Africa)

"संसार का ऐसा कोई भाग नहीं है, जहाँ इतनी निर्दय बातें हुई हों, जितनी अफ्रीका में हुई हैं। अफ्रीका की कहानी उत्पीड़न और नग्न शोषण की कहानी है। पर अब आधारभूत तथ्य यह है कि इस महाद्वीप

में जागरण की लहर फैल गई है जिससे अफ्रीका-स्थित यूरोपीय राष्ट्रों के समक्ष कई कठिन समस्यायें उपस्थित हुई हैं। यदि ये समस्यायें शांतिपूर्वक हल न की गई तो झगड़े और कष्टों के बढ़ने की ही संभावना है।" उक्त बातें भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने घाना के प्रधान मन्त्री डॉक्टर एनक्रूमा के स्वागत में दिल्ली में हुई एक सभा में कहा था।

अफ्रीका साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का जितना शिकार हुआ उतना विश्व का अन्य कोई भाग नहीं। सन् १८६६ में पुर्तगालवासी वास्को डि गामा द्वारा अफ्रीका महाद्वीप का पता लगा। केवल पता लगने की देर थी। सर्वप्रथम स्पेन और पुर्तगाल ने अपना पैर जमाया। फिर इंगलैंड ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। धीरे-धीरे अन्य राष्ट्रों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ। सन् १८३० में अल्जीरिया और सन् १८८१ में ट्यूनीसिया पर फ्रान्स का अधिकार हो गया। सन् १८८३ में मिश्र अंग्रेजों के अधीन आ गया। इसके अतिरिक्त नेटाल, ट्रान्सवाल, जंजीबार, रोडेशिया आदि भागों पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। अन्य राष्ट्रों का तो अधिकार क्रमशः क्षीण होता गया लेकिन ब्रिटेन और फ्रान्स का आधिपत्य पूर्ववत् बना रहा।

अफ्रीका स्थित विदेशी उपनिवेशों में नव जागरण का संदेश भेजने वाले प्रथम व्यक्ति थे—महात्मा गांधी। महात्मा गांधी ने सर्व प्रथम 'सत्याग्रह' का प्रयोग अफ्रीका में ही किया था। अफ्रीका सत्याग्रह की जन्मभूमि है। इस सत्याग्रह ने अफ्रीकी लोगों में काफी चेतना पैदा कर दी। नव चेतना से सशंकित ब्रिटेन और फ्रान्स ने रंगभेद नीति अपनानी शुरू की। यह नीति जोर पकड़ती गयी। यह नीति जहाँ गोरे और काले में विषमता पैदा करने में सफल हुई, वहाँ यह नीति विदेशों द्वारा शासित देशों में एकता और नव जाग्रति पैदा करने में भी सहायक सिद्ध हुई। भारत और पाकिस्तान ने अनेक बार राष्ट्र संघ में प्रस्ताव लाकर दक्षिण अफ्रीका की सरकार को रंग भेद नीति बदलने के लिये प्रयत्न किया है।

सितम्बर '५८ में दक्षिण अफ्रीकी वर्णविभेद नीति के प्रश्न को संयुक्त-राष्ट्रसंघ की साधारण सभा की कार्यसूची में सम्मिलित किया गया। कुछ राष्ट्रों ने अफ्रीका को दो भागों में विभाजित करने का भी प्रस्ताव रखा था जिसे राष्ट्रसंघीय महासमिति ने अमान्य कर दिया। इस सम्बन्ध में ज्ञात रहे कि सन् १६५८ के प्रारम्भ में इस समिति ने रिपोर्ट दी थी कि महा-समिति यदि चाहे तो दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका का विभाजन कर सकती है। इस समिति में तीन राष्ट्र हैं—अमेरिका, ब्रिटेन और ब्राजील। महासमिति ने सद्भावना समिति से आग्रह किया है कि वह सीमा के भविष्य के प्रश्न पर दक्षिण अफ्रीका की सरकार से पुनः वार्ता करके अगले वर्ष (सन् १६५६) रिपोर्ट दे।

एशिया के बाद अब अफ्रीका जागा है। वह अब अंगड़ाई ले रहा है। उसके स्वातन्त्र्य आन्दोलन ने काफी जोर पकड़ लिया है। यही कारण है कि मिश्र, सूडान, मोरक्को, ट्यूनीसिया, लीबिया और घाना स्वतन्त्र हो गये। अल्जीरिया स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष कर रहा है और अन्य देशों की भाँति वह भी स्वतन्त्र हो जायगा। सन् १६५८ के मध्य से एक नया अफ्रीकी स्वतन्त्रता आन्दोलन आरम्भ हो गया है। २१ देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन भी टांगानिका में हुआ जिसके अध्यक्ष श्री फ्रांसिस खामिसी थे। इस आन्दोलन का लक्ष्य है—"जब तक हमें आजादी मिल नहीं जायगी तथा हमारी मातृभूमि से साम्राज्यवाद समाप्त नहीं हो जायगा, तब तक हम संघर्ष करते रहेंगे।" इसी प्रकार के दो सम्मेलन सन् १६५८ में घाना की राजधानी अंकरा में हुये। पहला सम्मेलन मार्च में हुआ था और दूसरा दिसम्बर में। मार्च सम्मेलन में केवल ६ स्वतन्त्र अफ्रीकी राज्यों ने ही भाग लिया था। इस सम्मेलन के दो उद्देश्य थे—पहला उद्देश्य यह था कि स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग को दृढ़ किया जाय। दूसरा उद्देश्य पराधीन अफ्रीकी देशों की स्वतन्त्रता के लिये अन्य राज्यों की सहानुभूति प्राप्त

करना था। दिसम्बर सम्मेलन इससे भिन्न था। इसमें प्रायः सभी अफ्रीकी देशों ने भाग लिया था। यह एक गैर सरकारी सम्मेलन था जिसका आयोजन घाना की 'कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी' ने किया था। इसमें लगभग ३०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन ने राष्ट्रीय संघर्षों को अहिंसात्मक रूप देने, अफ्रीका के पराधीन क्षेत्रों को स्वतन्त्र करने तथा सम्पूर्ण अफ्रीका की एकता बनाये रखने की आवश्यकता पर जोर दिया।

दिसम्बर '५८ से अफ्रीकावासियों ने "अफ्रीका छोड़ो" का नारा लगाना आरम्भ किया है। स्मरण रहे कि इसी प्रकार का नारा (अर्थात् "भारत छोड़ो") महात्मा गान्धी ने सन् १९४२ में लगाया था जिसके फलस्वरूप भारत में ब्रिटिश शासन एक बार हिल गया था। सम्भव है, जिस प्रकार गान्धी जी के नारे को अंग्रेजों को सन् १९४७ में कार्यान्वित करना पड़ा था, उसी प्रकार भविष्य में विदेशी शक्तियों को अफ्रीका छोड़ना पड़े। ये सब शुभ लक्षण है।

बर्लिन (Berlin)

२७ नवम्बर सन् १९५८ को रूस ने बर्लिन को एक स्वतन्त्र नगर बनाने का एक प्रस्ताव रखा है। प्रस्ताव में यह कहा गया है कि रूस पूर्वी बर्लिन पर से अपना नियन्त्रण हटाकर नगर पूर्वी जर्मनी की कम्यूनिस्ट सरकार को लौटा देगा। प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि पश्चिमी राष्ट्र भी पश्चिमी बर्लिन पर से अपना अधिकार हटा लें और उसे स्वतन्त्र घोषित कर दें। पश्चिमी बर्लिन अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के नियन्त्रण में है। पूर्वी बर्लिन पर रूस का अधिकार है। रूस ने अपने प्रस्ताव की प्रतिलिपियाँ सभी देशों तथा राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों के पास भेजा है। बर्लिन को एक स्वतन्त्र नगर घोषित करने का निश्चय करके रूसी प्रस्ताव ने एक समस्या पैदा कर दी है। इस समस्या से सुदूरपूर्व का संकट पश्चिमी योरप के मध्य में चला गया है।

बर्लिन-समस्या पर विचार करने के पूर्व नगर के पिछले इतिहास का अवलोकन करना आवश्यक है। द्वितीय महायुद्ध में जब जर्मनी बराबर हारने लगा तब पश्चिमी राष्ट्रों के सामने यह प्रश्न उठा कि जर्मनी का प्रबन्ध किस प्रकार हो। जर्मनी ने सर्वप्रथम तो मित्र राष्ट्रों की सेना का डटकर सामना किया लेकिन हार को अवश्यम्भावी पाकर जर्मनी के कुछ सैनिक अधिकारियों ने अमेरिका और ब्रिटेन के साथ समझौता के लिए वार्ता चलाया, क्योंकि जर्मनी वाले यह नहीं चाहते थे कि बर्लिन पर रूसी सेना का अधिकार हो। लेकिन मार्शल जुकोव के नेतृत्व में रूसी सेना विजयी हुई और बर्लिन में सर्वप्रथम रूस ने प्रवेश किया। अमेरिकी और ब्रिटिश सेनायें बाद में पहुँची। सन् १६४४ में पोट्सडम की सन्धि हुई और बर्लिन को पूर्वी और पश्चिमी भागों में बाँटा गया। पश्चिमी भाग में जाने का रास्ता पूर्वी बर्लिन में से होकर है। सन् १६४८ में रूस ने घेरा-बन्दी कर दी। जब रुकावट पहुँची तब सामान, रसद वगैरह हवाई जहाज से जाने लगा। बाद में रूस को इस नाका-बन्दी को हटाना पड़ा, क्योंकि उस समय रूस के पास अणुबम वगैरह न था जिससे उसे झुकना पड़ा। अब रूस ने जब कि अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस स्वेज के मामले में, इराक, लेबनान और जार्डन के मामले में, निःशस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद, रंग-भेद नीति आदि के प्रश्नों पर काफी बदनाम हो चुके हैं और वह स्वयं अणुबम, उद्जनबम, दूरगामी क्षेप्यास्त्रों में पश्चिमी राष्ट्रों की अपेक्षा काफी आगे बढ़ चुका है, बर्लिन की स्वतन्त्रता के प्रस्ताव को रखकर नयी समस्या खड़ा कर दिया है।

रूस ने इस प्रश्न को रखकर एक बहुत बड़ी राजनीतिक चाल चली है। पूर्वी बर्लिन को स्वतन्त्र कर देने में रूस को कोई हानि नहीं है क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि यदि पश्चिमी बर्लिन भी स्वतन्त्र हो जायगा तो वह कम्यूनिस्ट सरकार के अधीन चला आयेगा। देखना तो यह है

कि पश्चिमी राष्ट्र इस प्रस्ताव का किस तरह स्वागत करते हैं। सच तो यह है कि इस घोषणा से पश्चिमी राष्ट्र काफी उलझन में पड़ गये है। पश्चिमी बर्लिन अब अपने प्रारम्भिक स्थिति में नहीं है। उसने काफी प्रगति कर ली है। कई उद्योग और कारखाने खुल गये हैं जहाँ पर आधुनिक अस्त्रों का निर्माण हो रहा है। ऐसी स्थिति में पश्चिमी राष्ट्र पश्चिमी बर्लिन को कैसे छोड़ेंगे ?

१२ दिसम्बर सन् १९५८ को जर्मनी के सम्बन्ध में अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के परराष्ट्र मन्त्रियों से वार्ता करने के लिए अमेरिकी परराष्ट्र मन्त्री श्री जान फास्टर डलेस पेरिस रवाना हुए। १४ दिसम्बर '५८ की रात को अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स और पश्चिमी जर्मनी के परराष्ट्र मन्त्रियों की एक बैठक हुई जिसमें रूसी प्रस्ताव को ठुकरा दिया गया और बर्लिन सम्बन्धी अपने अधिकारों तथा स्थिति को बनाये रखने के संकल्प को पुनः दोहराया।

१६ दिसम्बर '५८ को उत्तरी अतलांतक सन्धि के १५ राष्ट्रों ने भी रूसी-बर्लिन प्रस्ताव को अमान्य घोषित कर दिया। नाटो राष्ट्रों ने ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका और पश्चिमी जर्मनी के निर्णय के प्रति सहमति प्रकट की। प्रकाशित विज्ञप्ति में कहा गया कि पश्चिमी राष्ट्र सम्पूर्ण जर्मनी, यूरोपीय-सुरक्षा और निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर विचार करने के लिए तैयार हैं। विज्ञप्ति में यह भी कहा गया कि रूसी प्रस्ताव ने गंभीर स्थिति उत्पन्न कर दी है जिसका सामना डटकर किया जाना चाहिए।

१० जनवरी '५९ को रूस ने बर्लिन सम्बन्धी एक नया शान्ति समझौता प्रस्ताव पेश किया। इस समझौते की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :—

(१) समझौता कार्यान्वित होने की तिथि से १ वर्ष के अन्दर सभी विदेशी सेनाओं को जर्मनी से हटा लेना होगा।

(२) यह समझौता करने के लिए जो सम्मेलन होगा उसमें कम्यूनिस्ट चीन भी होगा।

(३) शांति-समझौता सम्मेलन में निम्नलिखित राष्ट्र भाग लेंगे :—

रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, अल्बानिया, बेल्जियम, बायलो रूस, बल्गेरिया, ब्राजील, यूनान, डेनमार्क, भारत, इटली, कनाडा, कम्यूनिस्ट चीन, लग्जेम्बर्ग, हालैण्ड, न्यूजीलैण्ड, नार्वे, पाकिस्तान, पोलैण्ड, हंगरी, यूक्रेन, रूमानिया, फिनलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और दक्षिण अफ्रीका।

(४) अपनी सुरक्षा के लिए जर्मनी के पास अपनी स्वयं की सेना होनी चाहिए लेकिन उसको पारमाणविक अस्त्र, राकेट और पनडुब्बी जहाजों के निर्माण की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए।

(५) जर्मनी की वही सीमा होगी जो १ जनवरी सन् १९५९ को थी।

(६) पुनः एकीकरण के समय तक पश्चिमी बर्लिन को एक स्वतन्त्र, मुक्त और तटस्थ नगर माना जाय।

(७) जर्मनी को यह अधिकार न होगा कि वह उन राष्ट्रों के विरुद्ध किसी राजनीतिक या सैनिक संघटन में सम्मिलित हो जिनका कि इस समझौता पर हस्ताक्षर होगा।

(८) दो महीने के अन्दर जर्मनी शान्ति समझौता वारसा या प्राग में किया जाय।

(९) समझौते पर हस्ताक्षर होने के पूर्व यदि जर्मन फेडरेशन बन जाता है तो समझौता करने वाला पक्ष जर्मन का फेडरेशन होगा।

(१०) मित्र तथा उनके साथ युद्ध में भाग लेने वाले राष्ट्र और जर्मनी यह घोषित करें और इस बात को स्वीकार करें कि इनमें युद्ध की स्थिति समाप्त हो गयी है और इनमें शान्तिपूर्ण सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गया है।

(११) मित्र राष्ट्रों और उनके साथ के राष्ट्र जर्मनी के साथ अपना सम्बन्ध, प्रभुसत्ता के प्रति आदर, जर्मनी की क्षेत्रीय एकता, घरेलू मामले में हस्तक्षेप न करना, अनाक्रमण, समानता, आपसी लाभ तथा वर्तमान समझौते की धाराओं के सिद्धान्त के आधार पर स्थापित करेंगे।

(१२) यदि पश्चिमी राष्ट्रों से ६ महीने के अन्दर समझौता न हुआ तो रूस अपनी योजना पूर्वी जर्मनी की सहमति से कार्यान्वित करेगा।

पश्चिमी और नाटो राष्ट्रों ने यह कह कर कि रूस के नये प्रस्ताव में कोई नयी बात नहीं है, अस्वीकार कर दिया। १४ जनवरी '५६ को राष्ट्रीय प्रेस क्लब में एक भोज के अवसर पर अमेरिकी राष्ट्रपति आइसनहावर ने अपने एक भाषण में कहा कि—"जर्मनी जैसी सशक्त, महत्त्वपूर्ण और तेजस्वी जनता को तटस्थ और असैनिक बनाने का प्रयत्न 'व्यर्थ-प्रयास' है। रूस उसे तटस्थ और पूर्ण निरस्त्र कर देने का अभिलाषी है और अमेरिका इस विचार का विरोधी है। अमेरिका ऐसा कोई ठोस कदम उठाने को तैयार है जिससे रूस को भरोसा हो जाय कि जर्मन जनता से कोई खतरा नहीं है। रूस जर्मनी से शांति-संधि के लिए सम्मेलन का जो अभिलाषी है वह चलने की चीज नहीं।"

१६ जनवरी '५६ को पूर्वी जर्मनी के प्रधान मन्त्री डाक्टर ग्रोटेवाल ने भारतीय दौरान में अपने एक वक्तव्य में कहा कि जर्मन को शांति समझौते के प्रत्येक प्रयास का स्वागत करना चाहिए एवं पंचशील के आधार पर शांतिपूर्ण समझौता वार्ता से जर्मन समस्या हल करनी चाहिए।

जनवरी '५६ के तीसरे सप्ताह में ब्रिटेन, फ्रान्स और अमेरिका के प्रधान सेनापतियों ने रूस द्वारा पश्चिमी बर्लिन पर घेरा डाले जाने की अवस्था में जवाबी सैनिक उपायों पर भी विचार कर लिया। सम्भवतः प्रधान सेनापतियों ने यह निर्णय किया कि शक्ति का उत्तर शक्ति से दिया जायगा।

२७ जनवरी '५६ को पत्रकारों के बीच अपने एक वक्तव्य में अमेरिकी विदेश मन्त्री श्री डलेस ने कहा कि "मुख्य रूप से यह बात अब रूस पर निर्भर करती है कि वह स्वतः चुनाव के माध्यम का कोई दूसरा विकल्प सामने रखे। रूस का प्रस्ताव जर्मनी के विभाजन का प्रस्ताव है। अभी तक मैं कोई ऐसी चीज नहीं देख रहा हूँ कि जिससे मेरी यह धारणा बने कि सोवियत रूस सच्चे हृदय से शीत-युद्ध की समाप्ति चाहता है।"

रूसी कम्यूनिस्ट दल के २१ वें कांग्रेस अधिवेशन में २६ जनवरी '५६ को रूसी परराष्ट्र मत्री ने अपने भाषण में कहा—"आज सर्वाधिक महत्त्व का अन्तरराष्ट्रीय प्रश्न यह है कि जर्मनी से शान्ति-सन्धि हो जाय और बर्लिन पर कब्जे का स्वातन्त्र समाप्त हो। खेद की बात यह है कि अन्तरराष्ट्रीय तनाव घटाने के किसी भी प्रस्ताव का सबसे पहले विरोध पश्चिम जर्मनी के चांसलर डाक्टर अडानावर ही कर बैठते हैं।"

पश्चिमी जर्मनी के चांसलर डाक्टर अडानावर को इस बात का भय है कि कहीं रूस विश्व-विजयी न हो जाय। २६ जनवरी '५६ को उन्होंने अपने एक भाषण में कहा है—"यदि रूस जर्मनी तथा पश्चिमी यूरोप की अर्थव्यवस्था पर अधिकार कर लेता है तो विश्व विजय का उसका उद्देश्य पूरा हो जायगा। बर्लिन तथा जर्मन शांति-सन्धि सम्बन्धी रूसी प्रस्तावों का उद्देश्य केवल पश्चिमी जर्मनी को ही क्षति पहुँचाना नहीं वरन् अतलांतिक-संघटन तथा पश्चिमी देशों को भी क्षति पहुँचाना है।"

रूस का प्रस्ताव यदि पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा ठुकराया गया तो बर्लिन को लेकर एक गम्भीर समस्या खड़ी होगी। पूर्वी जर्मनी की सरकार को सारा उत्तरदायित्व सौंपकर रूस बर्लिन से हट जायगा। ऐसी स्थिति में पश्चिमी राष्ट्रों को पूर्वी जर्मनी को मान्यता देनी पड़ेगी। यदि पश्चिमी राष्ट्र मान्यता नहीं देते तो बर्लिन से उसका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं रह

सकता और वह अपने आकाश-मार्ग से विमानों के आने-जाने की अनुमति नहीं देगा। यदि पश्चिमी राष्ट्र बल का प्रयोग करते हैं तो युद्ध होता है और उसकी सारी जिम्मेदारी पश्चिमी राष्ट्रों पर पड़ेगी। यदि पश्चिमी राष्ट्र पूर्वी जर्मनी को मान्यता देता है तो यह पश्चिमी राष्ट्रों के लिए एक बहुत बड़ी राजनीतिक हार होगी।

अध्याय १३

संयुक्त राष्ट्रसंघ

(United Nations Organisation)

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप हुई है। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय हुई लेकिन फिर भी उनको शान्ति और सुरक्षा की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। सन् १९४५ में क्रीमिया के माल्टा नगर में चर्चिल (ब्रिटेन), रूज़वेल्ट (अमेरिका) और स्टॉलिन (रूस) की एक बैठक हुई जिसमें यह निर्णय किया गया कि २५ अप्रैल सन् १९४५ को सैनफ्रान्सिस्को में संयुक्त राष्ट्रों की एक सभा बुलायी जाय जो विश्व-शांति और सुरक्षा के लिए एक घोषणापत्र तैयार करें। इस प्रकार २५ अप्रैल सन् १९४५ को संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ।

उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

(१) विश्व में शांति और सुरक्षा की स्थापना करना।

(२) भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में मित्रता की भावना जाग्रत करना।

(३) भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा निपटारा करना।

(४) मनुष्य के मौलिक अधिकारों में विश्वास स्थापित करना।

(५) न्याय के लिए शर्तें निश्चित करना।

(६) आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं पर अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना।

संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने सदस्य राष्ट्रों को समान समझता है और घोषणापत्र के सभी उद्देश्यों को सौजन्य व शान्ति पूर्ण उपायों से प्राप्त करेगा। संघ के सदस्य सभी झगड़ों का शांतिपूर्ण उपायो से निर्णय करेंगे। वे किसी भी राष्ट्र की स्वतन्त्रता के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते। राष्ट्रसंघ जो कुछ कार्य करेगा, वह सब घोषणापत्र के अनुसार होगा।

संघटन

(१) साधारण सभा—साधारण सभा में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक प्रतिनिधि होता है। यह सभा विश्व की स्थिति का अध्ययन करती है और अन्य विभागों का निरीक्षण करती है। इसकी बैठक प्रत्येक वर्ष सितम्बर में होती है। आजकल इसके ८२ सदस्य राष्ट्र हैं जो इस प्रकार हैं—

अफ़गानिस्तान, अलबानिया, आर्जेण्टाइना, आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, बेल्जियम, बोलीविया, ब्राजील, बल्गेरिया, बर्मा, बाइलो रूस, कम्बो-डिया, कनाडा, लंका, चिली, चीन, कोलम्बिया, कोस्टारिका, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, डेनमार्क, डोमीनिकन रिपब्लिक, इक्वेडोर, एलसैल्वे-डोर, इथियोपिया, फिनलैण्ड, फ्रान्स, घाना, यूनान, ग्वाटेमाला, हैटी, होण्डूरास, हंगरी, आइसलैण्ड, इसराइल, इटली, भारत, हिन्देशिया, ईरान, इराक़, आयरलैण्ड, इटली, जापान, जार्डन, लाओस, लेबनान, लाइबेरिया, लीबिया, लक्सेमबर्ग, मलाया, मैक्सिको, मोरक्को, नेपाल, नीदरलैण्ड्स, न्यूज़ीलैण्ड, निकारागुआ, नार्वे, पाकिस्तान, पनामा, पैरा-गुए, पेरू, फिलिपाइन, पोलैण्ड, पुर्तगाल, रूमानियाँ, सऊदी अरब, स्पेन, सूडान, स्वीडेन, थाईलैण्ड, ट्यूनीशिया, तुर्की, उक्रेन, यूनियन आफ साउथ अफ्रीका, यूनाइटेड अरब रिपब्लिक, सोवियत रूस, ब्रिटेन, अमेरिका, युरुगुए, वेनेजुएला, यमन और यूगोस्लाविया।

(२) सुरक्षा-परिषद्—संयुक्तराष्ट्र संघ का यह सबसे महत्त्वपूर्ण

विभाग है। विश्व में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना ही इसका मुख्य कार्य है। इसमें कुल ११ सदस्य होते हैं जिनमें पाँच स्थायी सदस्य हैं और ६ अस्थायी। अस्थायी सदस्यों का चुनाव साधारण सभा दो वर्ष के लिए करती है। स्थायी सदस्यों में ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, फ्रान्स और चीन हैं।

सन् १६५६ में सुरक्षा परिषद् में निम्नलिखित सदस्य हैं :—

आर्जेण्टाइना (सन् १६६१ तक), कनाडा (सन् १६६० तक), इटली (सन् १६६१ तक), चीन (फारमोसी स्थायी सदस्य), फ्रान्स (स्थायी सदस्य), जापान (सन् १६६० तक), पनामा (सन् १६६० तक), ट्यूनीशिया (सन् १६६१ तक), रूस (स्थायी), ब्रिटेन (स्थायी) अमेरिका (स्थायी)।

(३) आर्थिक और सामाजिक परिषद्—इसमें कुल १८ सदस्य होते है जो आजकल इस प्रकार हैं :—

अफ़गानिस्तान (सन् १६६२ तक), फ्रान्स (सन् १६६१ तक), स्पेन (सन् १६६२ तक), बलगोरिया (सन् १६६२ तक), चिली (सन् १६६१ तक), मेक्सिको (सन् १६६० तक), सूडान (सन् १६६१ तक), रूस (सन् १६६० तक), नीदरलैंड (सन् १६६१ तक), ब्रिटेन (सन् १६६० तक), चीन राष्ट्रवादी (सन् १६६१ तक) न्यूज़ीलैण्ड (सन् १६६२ तक), कोस्टारिका (सन् १६६१ तक), पाकिस्तान (सन् १६६० तक), अमेरिका (सन् १६६२ तक), फिनलैण्ड (सन् १६६० तक), पोलैण्ड (सन् १६६० तक) और बेनेज़ुएला (सन् १६६२ तक)।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् के सदस्यों का चुनाव साधारण सभा करती है। यह परिषद् विश्व की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को दूर करती है।

(४) संरक्षण परिषद्—इसमें निम्नलिखित १३ सदस्य हैं। इस परिषद् का मुख्य उद्देश्य उपनिवेशों की देखभाल करना है।

आस्ट्रेलिया (संरक्षित प्रदेश का प्रशासक), हैटी (सन् १६६० तक), पैरागुए (सन् १६६१ तक), बेल्जियम (संरक्षित प्रदेश का प्रशासक), भारत (सन् १६६० तक), रूस (सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य), बर्मा (सन् १६६२ तक), इटली (संरक्षित प्रदेश का प्रशासक), यूनाइटेड अरब रिपब्लिक (सन् १६६२ से), चीन (राष्ट्रवादीसुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य), न्यूजीलैण्ड (संरक्षित प्रदेश का प्रशासक), ब्रिटेन (संरक्षित प्रदेश का प्रशासक), अमेरिका (संरक्षित प्रदेश का प्रशासक)

(५) अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय—इस न्यायालय की स्थापना १८ अप्रैल सन् १६४६ में हेग (Hague) में हुई थी। इसमें १५ सदस्य होते हैं। यह राष्ट्रों के झगड़ों का फैसला व न्याय करती है। आजकल इसके निम्नलिखित सदस्य हैं :—

पाकिस्तान (१६६७ तक), मिश्र (सन् १६६७ तक), अरूगुए (सन् १६६१ तक), फ्रान्स (सन् १६६४ तक), मेक्सिको (सन् १६६४ तक), अमेरिका (सन् १६६१ तक), रूस (सन् १६६१ तक), ब्रिटेन (सन् १६६४ तक), अरजेण्टाइना (सन् १६६४ तक), आस्ट्रेलिया (सन् १६६७ तक), पौलैण्ड (सन् १६६७ तक), यूनान (सन् १६६८ तक), चीन राष्ट्रवादी (सन् १६६७ तक)।

(६) सचिवालय— राष्ट्रसंघ का एक अंग सचिवालय भी है। प्रधान सचिव इसका प्रधान होता है। आजकल प्रधान सचिव श्री डाग हैमरशैल्ड हैं।

(७) विशेष समितियाँ—संयुक्त राष्ट्रसंघ की कुछ विशेष समितियाँ भी हैं जो राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होती हैं। इनमें कुछ निम्नलिखित है :—

(१) निःशस्त्रीकरण आयोग।

(२) सैन्याधिकारी समिति।

(३) अन्तरराष्ट्रीय श्रम संघटन ।
(४) खाद्य और कृषि संघटन ।
(५) अन्तरराष्ट्रीय सिविल एवियेशन आरगेनाइजेशन ।
(६) अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक ।
(७) अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय निगम ।
(८) अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष ।
(९) विश्व स्वास्थ्य-संघ ।
(१०) यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन ।
(११) इन्टर नेशनल टेली कम्यूनिकेशन्स यूनियन ।
(१२) वर्ल्ड मीटरोलाजिकल आर्गनाइजेशन ।
(१३) इन्टर गवर्नमेण्टल मेरिटाइम कन्सलटेटिव आर्गनाइजेशन ।

राष्ट्रसंघ के कार्य

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना हुई थी लेकिन लीग ऑफ नेशन्स विश्वशांति और सुरक्षा की स्थापना में सर्वदा असमर्थ रही । लीग ऑफ नेशन्स के विघटन के बाद इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते ही संयुक्तराष्ट्र संघ की स्थापना हुई । यद्यपि इसकी स्थापना हुये लगभग १४ वर्ष हो गये लेकिन इसकी कार्य-प्रगति बहुत धीमी है ।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में राष्ट्रों के दो गुट हो गये हैं—एक गुट का नेतृत्व इंग्लैण्ड और अमेरिका कर रहा है और दूसरे गुट का रूस। पहले गुट में समस्त पश्चिमी राष्ट्र सम्मिलित हैं और दूसरे गुट में पूर्वी राष्ट्र । इन दोनों गुटों में मतभेद और वैमनस्य है और वे एक दूसरे को संदेहयुक्त दृष्टि से देखते हैं। ये दोनों गुट अपने प्रभाव को बढ़ाने में हमेशा लगे रहते हैं ।

संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग सुरक्षा-परिषद् है । इसके पाँच सदस्य—इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस, फ्रान्स और चीन हैं । इन राष्ट्रों

को विशेषाधिकार (वीटो) प्राप्त है। ये किसी भी प्रस्ताव पर किये गये निर्णय को रद्द कर सकते हैं। ये राष्ट्र इस अधिकार का दुरुपयोग करते हैं और एक दूसरे का विरोध करने के लिए विशेषाधिकार का प्रयोग करते हैं। सम्भवतः ही कोई ऐसा प्रश्न हो जो बिना विवाद के निर्णय हो गया हो और उस निणय को कार्यान्वित किया गया हो।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का विज्ञान के संहारकारी अस्त्रों पर अधिकार नहीं है। यही कारण है कि राष्ट्रसंघ परमाणु शक्ति पर कोई अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण नहीं लगा पायी है।

यह दो राष्ट्रों (अमेरिका और रूस) का खिलौना बन गया है और जिस प्रकार वे चाहते हैं नचाते हैं। इसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह शक्तिशाली राष्ट्रों को, अपने निर्णय को मानने के लिए बाध्य कर सके। अपनी शक्तिहीनता ही के कारण वह किसी राष्ट्र की सैनिक शक्ति पर नियंत्रण नहीं लगा पायी है।

इस प्रकार हम देखते है कि राष्ट्रसंघ गुटबन्दी के दलदेल में फँस गया है। वह विश्वशांति और सदस्य राष्ट्रों के सर्वाधिक कल्याण में तभी सफल हो सकता है, जब वह बड़े राष्ट्रों की गुटबन्दी से ऊपर हो, सदस्य राष्ट्रों में उसके घोषणापत्र के प्रति हार्दिक निष्ठा हो और बड़े तथा छोटे राष्ट्र उसके निर्णयों को अस्वीकार न करें। यदि बड़े राष्ट्र विवादास्पद प्रश्नों पर एकमत हो जायँ, तो विश्वशांति की स्थापना में देर न लगेगी। यदि मतभेद बढ़ता गया, उनके बीच की खाई चौड़ी होती गयी तो राष्ट्रसंघ की स्थापना व्यर्थ सिद्ध होगी। बडे राष्ट्र कौन हैं, यह सभी जानते हैं। ये हैं ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और फ्रान्स। यदि ये राष्ट्र एक स्थान पर बैठकर विवेकपूर्ण, स्वार्थरहित और निष्पक्ष होकर विश्व समस्याओं पर विचार करें, तो सभी समस्याओं का अन्त हो सकता है। चूँकि इनमें स्वार्थ की मात्रा अधिक है, गुटपरस्ती अधिक है और वे शक्ति वृद्धि में संलग्न हैं, विश्व की प्रमुख समस्याओं—लाल चीन, काश्मीर, साइप्रस,

अफ्रीका, अल्जीरिया, गोवा, हंगरी, बर्लिन का उचित समाधान नहीं हो पाया है।

लाल चीन को मान्यता न देना राष्ट्रसंघ की एक बहुत बड़ी भूल है। राष्ट्रसंघ एक प्रतिनिधि संस्था है। वह सम्पूर्ण मानव-समाज का प्रतिनिधि करने का दम भरता है, परन्तु ऐसे संघ में लाल चीन जैसे विशाल, प्रगतिशील और अत्यधिक जनसंख्या वाले राज्य का कई प्रतिनिधि ही नहीं। चीन का प्रतिनिधित्व च्यांग काई शेक द्वारा अधिकृत फारमोसा करता है। यह पश्चिमी राष्ट्रों के स्वार्थ, पक्षपात और अविवेक का एक उज्वलन्त प्रमाण है क्योंकि पश्चिमी राष्ट्रों के विरोध के कारण ही लाल चीन राष्ट्रसंघ में प्रवेश नहीं पा रहा है। यदि लाल चीन आज राष्ट्रसंघ का सदस्य हो जाय तो बहुत सी समस्यायें सुलझ सकती हैं।

बड़े राष्ट्रों में आरोप और प्रत्यारोप की एक नीति चल पड़ी है। यदि एक राष्ट्र कुछ सुझाव रखता है तो दूसरा राष्ट्र उसे एक चाल समझता है। यह प्रवृत्ति अत्यन्त हानिप्रद है। इस नीति से कोई लाभ नहीं है बल्कि पारस्परिक सम्बन्ध ही बिगड़ता है। ५ नवम्बर सन् १९४८ को पेरिस में राष्ट्रसंघ की साधारण सभा में भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने जो भाषण दिया था, उसमें उन्होंने सत्य ही कहा था कि—"यदि हम लोग एक दूसरे पर आरोप करते रहेंगे तो किसी का कल्याण न होगा। यदि हम लोग अपने ही दोषों को जानने का प्रयत्न करें तो विषमता का यह वातावरण न रह जायगा और सब प्रेम के सूत्र में बँध जायेंगे। इससे राष्ट्र का, विश्व का और मानव समाज का कल्याण होगा।"

अतः बड़े राष्ट्रों को चाहिए कि राष्ट्रसंघ को दृढ़ बनाने के लिए अपना नैतिक समर्थन प्रदान करें तथा सुख और शांति के कार्यों में निष्पक्ष सहयोग दें।

यह कहना गलत होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अब तक कोई कार्य

ही नहीं किया। विश्व शांति की स्थापना की ओर राष्ट्रसंघ द्वारा किये गये प्रयास सदा प्रशंसनीय है। जब-जब विरोधी स्वार्थ टकराये हैं, चिनगारियाँ निकली हैं, तब-तब राष्ट्रसंघ ने शांति का दमकैल भेजा है। कोरिया और स्वेज के मामलों को लेकर जब स्थिति अति गंभीर हो गयी थी और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि किसी समय भी महायुद्ध की घोषणा हो सकती है, राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप किया है और तटस्थ देशों की सेवा को भेज कर स्थिति पर नियन्त्रण पाया है। सन् १९५८ में जब लेबनान ने सीरियाई हस्तक्षेप की शिकायत की तो राष्ट्रसंघ ने पर्यवेक्षक दल भेजकर शिकायत का समाधान कर दिया। विश्व-शांति के निमित्त जितनी सभायें जेनेवा आदि स्थानों पर हुई है अथवा हो रही है, वे सब राष्ट्र संघ के तत्वाधान अथवा संरक्षणता में हुई हैं और हो रही हैं। राष्ट्र-संघ ने पराधीन राष्ट्रों के उद्धारार्थ अनेक सहायता प्रदान की है और कर रहा है। काश्मीर, अफ्रीका आदि प्रश्नों को भी सुलझाने का राष्ट्रसंघ ने प्रयास किया है। दुःख तो इस बात की है कि पश्चिमी राष्ट्रों के स्वार्थ-पूर्ण हस्तक्षेपों के कारण राष्ट्रसंघ उतनी प्रगति नहीं कर सकी, जितनी करनी चाहिए।

आशा है भविष्य में यह विश्व-संघ अधिक लाभप्रद और कल्याण-कारी सिद्ध होगा।

अध्याय १४

अन्तरराष्ट्रीय समझौते, सन्धियाँ और सम्मेलन

(International Pacts, Treaties and Conferences)

संयुक्त राष्ट्रसंघ का घोषणापत्र अन्तरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के निमित्त स्थापित किये गये क्षेत्रीय प्रबन्ध (regional arrangements) पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता, यदि क्षेत्रीय प्रबन्ध तथा उनके कार्य घोषणापत्र की ५१वें धारा के उद्देश्य तथा सिद्धान्त के अनुकूल हों। लेकिन इस धारा के अनुसार क्षेत्रीय प्रबन्ध को अत्यन्त सीमित रखने पर जोर दिया गया है। क्षेत्रीय प्रबन्ध ने द्रुतगति से अनेक समझौते और सन्धियों को जो, आजकल शक्ति संतुलन (Balance of Power) स्थापित करने में सहायक हैं, जन्म दिया है। कुछ प्रमुख समझौते, सन्धियों और सम्मेलनों का वर्णन नीचे दिया गया है—

समझौते और सन्धियाँ

(१) अरब संघ—अरब संघ की स्थापना २२ मार्च सन् १९४५ में हुई। इसकी अवधि अनिश्चित रखी गई। इसके सदस्य मिश्र, इराक, जार्डन, सऊदी अरब, सीरिया, लेबनान, यमन और लीबिया हैं। इसका संघटन सामूहिक सुरक्षा तथा आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग प्राप्त करना है।

(२) डनकर्क-सन्धि—उत्तरी अतलांतक क्षेत्र में फ्रान्स और इंग्लैण्ड के बीच डनकर्क सन्धि (Dunkirk Treaty) ४ मार्च सन् १९४७ को हुई। इसकी अवधि ५० वर्ष रखी गयी है। इस सन्धि के

अनुसार यदि जर्मनी आक्रमण करेगा या अतिक्रमण की नीति अपनायेगा या सुरक्षा परिषद् जर्मनी के विरुद्ध कोई कार्रवाई करेगी तो इस संधि के सदस्य सैनिक तथा अन्य सहायता प्रदान करेंगे।

(३) रिओ समझौता—घोषणापत्र की ५१वें धारा के अन्तर्गत यह एक सामूहिक सुरक्षा का समझौता है जो अनिश्चित काल के लिए किया गया था। इस समझौते पर २ सितम्बर सन् १६४७ को रिओ-डी-जेनरो नामक स्थान पर हस्ताक्षर हुआ। यही सभी अमेरिकन राज्यों के लिए खुला था। इसके अनुसार एक अमेरिकी राज्य पर किया गया आक्रमण सभी अमेरिकी राज्यों पर आक्रमण समझा जायगा।

(४) ब्रूसेल्स सन्धि—ब्रूसेल्स की सन्धि पर १७ मार्च १६४८ में हस्ताक्षर हुए थे। इसके सदस्य ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रान्स, लग्ज़ेमबर्ग और नीदरलैण्ड हैं। यह एक आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सहयोग और सामूहिक सुरक्षा की सन्धि है जिसकी अवधि ५० वर्ष रखी गयी है। इस सन्धि की चौथी धारा के अनुसार यदि योरप में किसी सदस्य राष्ट्र पर सशस्त्र आक्रमण हुआ तो अन्य सदस्य राष्ट्र उसकी सहायता करेंगे।

(५) नाटो-संगठन—'नाटो' 'नार्थ अटलांटिक ट्रीटी आरगनाइज़ेशन' का संक्षिप्त नाम है। इस संधि पर ४ अप्रैल सन् १६४६ को १२ राष्ट्रों ने अमेरिका की राजधानी में २० वर्ष के लिए लोकतन्त्र तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधारित पारस्परिक स्वतन्त्रता, सभ्यता, तथा संस्कृति की रक्षा के लिए हस्ताक्षर किये। नाटो के १२ प्रथम सदस्य—बेल्जियम; कनाडा, डेनमार्क, फ्रान्स, आइसलैण्ड, इटली, ल्यूज़मबर्ग, नीदरलैण्ड, नार्वे, पुर्तगाल, इंगलैण्ड और अमेरिका थे। यूनान और तुर्की फरवरी सन् १६५२ में शामिल हुए। ५ मई सन् १६५५ को पश्चिमी जर्मनी को भी शामिल कर लिया गया। इस प्रकार आजकल नाटो के सदस्यों की संख्या कुल १५ हो गयी है।

यह संघटन कोई क्षेत्रीय प्रबन्ध नहीं है। इसमें अनेक ऐसे देश हैं जो एक क्षेत्र के नहीं हैं। यह एक सन्धि है, जो पश्चिम की ओर सोवियत रूस के प्रसार को रोकने के लिए बनायी गयी है। इस सन्धि के अनुसार यदि एक या एक से अधिक देशों पर कोई सैनिक आक्रमण होता है तो यह आक्रमण सबके विरुद्ध समझा जायगा। इस आक्रमण को रोकने के लिये राष्ट्र संघ के घोषणापत्र की ५१ वीं धारा के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से एक दूसरे की सहायता देने के लिये करबद्ध होगा।

इसका एक अधिवेशन ११ दिसम्बर सन् १९५६ को हुआ था जिसमें अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री श्री जान फास्टर डलेस ने प्रत्येक सदस्य राष्ट्रों की अपनी सैनिक शक्ति को मजबूत बनाने की राय दी थी।

नाटो का एक दूसरा अधिवेशन १६ दिसम्बर सन् १९५७ से पेरिस में शुरू हुआ था। इस सम्मेलन में नाटो ने परमाणविक युद्धास्त्र को एकत्र करने का निश्चय किया। आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा के लिये नाटो गुट के राष्ट्रों को वे तत्काल प्राप्त हो सकेंगे। नवीन युद्धास्त्रों में युद्ध की वर्तमान नीति को दृष्टिगत रख नाटो ने मध्यम दूरी वाले अग्निवाणों को योरप में सर्वोच्च मित्र कमांडर के पास रखने का भी निश्चय किया। अतलांतक समझौता राष्ट्र अपनी दिलचस्पी केवल उत्तरी अतलांतक राष्ट्रों के सैनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखेंगे और न वे केवल सैनिक समस्याओं पर ही जोर देंगे, वरन् वे राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में भी परस्परावलम्बन के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुये अपने क्षेत्र के बाहर की घटनाओं पर नजर रखेंगे।

नाटो सम्मेलन में अमेरिका ने सदस्य राष्ट्रों को क्षेप्यास्त्र देने का जो प्रस्ताव रखा, उसकी अरब के समाचारपत्र तथा राजनीतिक क्षेत्र में जोरदार प्रतिक्रिया हुई। अरब क्षेत्रों में इस संवाद पर चिन्ता इसलिये प्रकट की जा रही है कि नाटो में तुर्की भी है जिसका सीरिया आदि पड़ोसी

देशों के साथ वांछनीय सम्बन्ध नहीं है। अगर तुर्की को क्षेप्यास्त्र मिलते है तो पश्चिमी एशियाई क्षेत्र में शस्त्र-होड़ का नया दौर शुरू होना निश्चित है। अरब के राजनीतिक क्षेत्रों में नाटो के निर्णयों को युद्ध की तैयारियों का आवाहन बतलाया जा रहा है।

(६) सोवियत रूस और लाल चीन के बीच सन्धि—यह सन्धि ३० वर्ष के लिये सोवियत रूस और कम्यूनिस्ट चीन के बीच १४ फरवरी सन् १९५० को हुई। इस सन्धि के अनुसार लाल चीन पर जापान या जापान के मित्र राष्ट्रों द्वारा आक्रमण होने पर सोवियत रूस चीन की सहायता करेगा।

(७) बगदाद समझौता—इस समझौते का उद्देश्य मध्यपूर्व में सुरक्षा पैदा करना है। यह समझौता २४ फरवरी सन् १९५० को हुआ। इसके इराक, तुर्की, ब्रिटेन, पाकिस्तान और ईरान सदस्य हैं। इस समझौते की अवधि ५ वर्ष है लेकिन इसकी अवधि बढ़ाई जा सकती है। सैनिक अतिक्रमण अथवा आशंका की स्थिति में एक सदस्य राष्ट्र दूसरे सदस्य राष्ट्र की सैनिक सहायता करेगा। इसका उद्देश्य मध्यपूर्व से रूस के प्रभाव को बिलकुल नष्ट कर देना है। लेकिन इसकी प्रतिक्रिया ठीक उल्टी हुई है। इस समझौते के कारण सोवियत रूस मध्यपूर्व में अधिकाधिक दिलचस्पी लेने लगा है। मिश्र आदि देशों ने इसका जोरदार विरोध किया है। उनका कहना है कि अरब राष्ट्रों को पश्चिम के बड़े राष्ट्रों के समझौते या सन्धि में शामिल नहीं होना चाहिये। उन्हें अरब-सामूहिक सुरक्षा समझौता पर ही निर्भर करना चाहिये। मिश्र का कहना है कि बगदाद समझौते से मध्यपूर्व में इराक ब्रिटेन का एक उपनिवेश हो गया है।

एशियाई देशों में केवल पाकिस्तान ही इस समझौते में शामिल हुआ है। भारत के साथ उसका वांछनीय सम्बन्ध नहीं है। फिर, पाकिस्तान काश्मीर को हड़पना चाहता है। इसलिये उसका इस समझौते में

शामिल होना आवश्यक था। इससे पाकिस्तान को काफी सैनिक-सहायता मिलेगी।

अमेरिका अभी तक इस समझौते में शामिल नही हुआ है और न शामिल होना चाहता है क्योंकि उसके शामिल होने से सोवियत रूस को मध्यपूर्व में प्रत्यक्ष रूप के हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जायगा। फिर भी अमेरिका परोक्ष रूप से इसका सदस्य है क्योंकि आर्थिक मामलो में यह मन्त्रणा और सहायता देता है।

१४ जुलाई '५८ की इराकी सैनिक-क्रान्ति ने बगदाद-समझौता की कमर ही तोड़ दी। इराक बगदाद-समझौते का मुख्य स्तम्भ था और उसके प्रधान मन्त्री श्री नूरी-अल-सईद मुख्य संयोजक थे। इस क्रान्ति के पश्चात् श्री नूरी-अल-सईद की हत्या कर दी गयी और इराक में एक तटस्थ गणतन्त्र की स्थापना हो गयी। इस क्रान्ति के पश्चात् इराक का गणतन्त्र इस सैनिक समझौते की बैठकों में सम्मिलित ही नहीं हुआ।

इराक के हट जाने से जो स्थान रिक्त होगा, उस स्थान को अमेरिका लेना चाहता है। २८ जुलाई सन् १९५८ को अमेरिका ने ब्रिटेन, तुर्की, ईरान और पाकिस्तान के साथ एक नया 'सुरक्षा-समझौता' किया है जिसके अनुसार बिना पूर्ण सदस्य हुए ही अमेरिका ने पूर्ण सदस्य का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया। इस समझौता के पहले अमेरिका ने यह घोषणा किया था कि वह बगदाद गुट के देशों को युद्ध के खतरे का सामना करने के लिए बराबर सहायता करता रहेगा।

भारत ने बगदाद समझौते का विरोध किया है।

(८) अमेरिका-फिलिपाइन सन्धि—यह सन्धि अमेरिका और फिलिपाइन के बीच ३० अगस्त सन् १९५१ को हुई थी। इसके अनुसार प्रशान्त क्षेत्र में किसी भी सदस्य राष्ट्र पर आक्रमण होने पर एक सदस्य राष्ट्र दूसरे की सहायता करेगा।

(६) अमेरिका-जापान संधि—यह सन्धि ८ सितम्बर सन् १९५१ को अनिश्चित काल के लिए अमेरिका और जापान के बीच हुई थी। इस सन्धि के अनुसार जापान पर आक्रमण होने पर अमेरिका पूरी सहायता करेगा। इस सन्धि से अमेरिका को यह अधिकार होगा कि वह अपनी स्थल, नभ तथा जलसेना जापान की आन्तरिक अशांति और वाह्य आक्रमण तथा सुदूर पूर्व में शांति और सुरक्षा स्थापित करने के लिए रख सके।

(१०) योरपीय सुरक्षा संघ—एक सन्धि द्वारा २७ मई, सन् १९५२ को छः राष्ट्रों की एक योरपीय सुरक्षा संघ (European Defence Community) की स्थापना की गयी। इसके सदस्य राष्ट्र फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैण्ड, बेल्जियम तथा लक्सेमबर्ग थे। इस सन्धि के अनुसार योरपीय सुरक्षा संघ के अधीन ६ राष्ट्रों की एक सेना होगी जो नाटों की सेना के साथ मिलकर एक सैनिक संघटन बनायेगी। यह सन्धि सन् १९५४ में समाप्त हो गयी।

(११) दक्षिण-पूर्वी एशिया संधि संघटन—दक्षिण-पूर्वी एशियाई भाग में मिटते हुए पश्चिमी राष्ट्रों के प्रभाव को बनाये रखने के लिए इस संगठन की नींव डाली गयी है। दक्षिण-पूर्व एशियाई भाग में रूस के प्रभाव का प्रसार पश्चिमी राष्ट्रों के लिए असह्य था। च्यांग-काई-शेक के पलायन तथा कम्यूनिस्ट चीन के उदय से दक्षिण-पूर्वी एशिया में रूस का काफ़ी प्रभाव बढ़ गया था। इस प्रभाव-प्रसार को रोकने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों ने इस संगठन को सन् १९५५ में जन्म दिया। इसका प्रथम अधिवेशन श्याम की राजधानी बैंकांक में हुआ।

सीटो नाटो का छोटा भाई है। नाटो का पूरा नाम 'नार्थ अतलांतिक ट्रीटी आर्गनाईज़ेशन' है जिसका अर्थ 'उत्तर अतलांतक सन्धि-संघटन' है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा से लेकर यूनान और तुर्की तक फैला हुआ है। 'सीटो' का पूरा नाम 'साउथ ईस्ट एशिया

ट्रीटी आर्गेनाईज़ेशन' है जिसका अर्थ 'दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि-संघटन' है। सीटो नाटो की तरह व्यापक नहीं हो सका, क्योंकि इस क्षेत्र का कोई बड़ा राज्य इसमें सम्मिलित नहीं हुआ। ये दोनों संघटन सोवियत रूस के विरुद्ध अमेरिका ने खड़ा किया है। उसकी आशा थी कि भारत भी इसमें सम्मिलित होगा, परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

इस क्षेत्र के छोटे और नगण्य राज्य ही इसके सदस्य बने। ये हैं फिलिपाइन्स, श्याम और पाकिस्तान। सदस्यों की इस कमी की पूर्ति ब्रिटेन और फ्रान्स को शामिल करके की गयी। इन दोनों के उपनिवेश इस क्षेत्र में हैं। यही इनको इस संघटन में लाने का औचित्य समझना चाहिए। आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड भी इसके सदस्य बनाये गये। ये दक्षिण-पूर्वी एशिया में तो नहीं हैं परन्तु अमेरिका और ब्रिटेन के पद-चिन्हों पर चलने वाले हैं और इस क्षेत्र के पड़ोसी भी हैं। अमेरिका का दक्षिण-पूर्वी एशिया में कुछ नहीं है परन्तु उसे कौन रोक सकता है। रूस विरोधी दल का नेता होने के कारण अमेरिका का इस संघटन में सम्मिलित होना अवश्यम्भावी था।

अमेरिका अपना दल बढ़ाने के लिए सदा तैयार रहता है। इसलिए कई वर्ष पहले इसने 'ऐनज़स' (ANZUS) नाम की सन्धि की थी। ऐनज़स शब्द में अंग्रेजी के ए, एन, ज़ेड, यू, एस पाँच अक्षर हैं। ए शब्द आस्टेलिया, एन और ज़ेड न्यूज़ीलैण्ड और यू, एस यूनाइटेड स्टेट्स के द्योतक हैं। इस प्रकार आस्टेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और अमेरिका की यह सन्धि थी। ब्रिटेन भी इस सन्धि का सदस्य होना चाहता था परन्तु अमेरिका को स्वीकार न था लेकिन जब अमेरिका ने देखा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में बिना ब्रिटेन की सहायता से कोई भी सन्धि या संगठन सफल नहीं हो सकता तो उसने सीटो की व्यवस्था की और ब्रिटेन को भी सम्मिलित कर लिया।

सीटो के एशियाई राष्ट्रों में फिलिपाइन्स द्वीप तो ११ वर्ष पूर्व अमेरिका का उपनिवेश था ही और आज भी आर्थिक दृष्टि से अमेरिका पर आश्रित है। श्याम में मार्शल विपुल संग्राम का बोलबाला है। वहाँ डिमोक्रेसी तो है ही नहीं और फिर अमेरिका को डिमोक्रेसी से कोई विशेष मतलब भी नहीं है। उसका तो वास्तविक कार्य इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करना है। तीसरा एशियाई राज्य पाकिस्तान है। पाकिस्तान की स्थापना के समय से ही अमेरिका का ध्यान उधर था। उसने सोचा था कि पाकिस्तान को हमारे साथ आते देख भारत भी आ जायगा और सब काम बन जायगा। परन्तु जब भारत 'सीटो में, नहीं आया तब संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा सभा में उसने ऐसा झमेला खड़ा किया कि दुनिया की दृष्टि में भारत गिर जाय। जब इस पर भी भारत का कुछ नहीं बिगड़ा, तब उसने पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र देकर सशक्त किया। ये शस्त्रास्त्र दो उद्देश्यों से दिये गये। एक यह था कि भारत सजग हो जाय और उनकी शरण आये। दूसरा यह था कि रूस भी समझ जाय कि अमेरिका का एशिया में गहरा प्रभाव है और रूस की दाल यहाँ न गलेगी। नेहरू जी यह कहते है कि ब्रिटेन और अमेरिका भारत को नीचा दिखाना चाहते है, इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। आश्चर्य तो इस बात की है कि नेहरू जी इनकी नेकनीयती पर अब भी विश्वास करते हैं।

ब्रिटेन का प्रभाव जो इस क्षेत्र में पहले था, अब नहीं रहा। इस क्षेत्र में उसका उत्तराधिकारी अमेरिका हो गया है जो उसके प्रभाव को सँभाल रहा है। इसमें सोवियत रूस बाधक है और इस बाधा में भारत अप्रत्यक्ष रूप से सहायक है। इसलिए अमेरिका और ब्रिटेन पाकिस्तान का पक्ष लेकर काश्मीर सम्बन्धी उसकी माँगो का प्रचार कर रहे हैं। उनका कहना है कि काश्मीर पाकिस्तान के अधीन होना चाहिए परन्तु भारत उसे देना नहीं चाहता। सीटो और बगदाद पेक्ट दोनों इसीलिए हैं। अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री श्री जान फास्टर डलेस ने आस्ट्रेलिया की राजधानी कैनबरा

में यह कहा था कि सीटो साम्यवाद के विरुद्ध है, उसमें काश्मीर का विचार नहीं हो सकता, उसका केवल इतना ही अर्थ है कि अमेरिका भारत को सीटो में आने के लिए अवसर दे रहा है।

(१२) बाल्कन-समझौता—यह सन्धि यूनान तुर्की और यूगोस्लाविया के बीच ६ सितम्बर सन् १६५४ में हुई थी। इसकी अवधि २० वर्ष है। इसके अन्तर्गत आक्रमण की दशा में एक सदस्य राष्ट्र दूसरे की सहायता करेगा।

(१३) वारसा-सन्धि—एक पूर्वी योरपीय सन्धि संघटन (East European Treaty Organisation) की नींव वारसा (Warsaw) में १४ मई सन् १६५५ में पड़ी जिसका मुख्य आधार मित्रता, सहयोग तथा पारस्परिक सहायता का सिद्धान्त था। अल्बानिया, बल्गेरिया, चेकोस्लावाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया, सोवियत रूस तथा कम्यूनिस्ट चीन इसके सदस्य हैं। इस सन्धि की अवधि २० वर्ष है। इस सन्धि के अनुसार ६ राष्ट्रों की एक संयुक्त सेना होगी जिसका मुख्य कार्यालय मास्को में होगा और जो सोवियत रूस के एक उच्च अधिकारी के अधीन होगा।

यह सन्धि योरप में सदस्य राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा की स्थापना पर जोर देती है तथा सदस्य राष्ट्रों के हितों की रक्षा और योरप में शांति बनाये रखना चाहती है।

(१४) फ्रान्स-लीब्रिया-सन्धि—उत्तरी अफ्रीका के क्षेत्र में मित्रता की एक सन्धि फ्रान्स और लीब्रिया के बीच १० अगस्त सन् १६५५ में हुई जिसके अनुसार उस क्षेत्र में हस्तक्षेप अथवा आक्रमण होने पर फ्रान्स पूरी सैनिक सहायता करेगा और इसके बदले में फ्रान्स को उस क्षेत्र में कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होंगे।

(१५) मिश्र-सीरिया-सुरक्षा-समझौता—२० अक्टूबर सन् १६५५ को मिश्र और फ्रान्स के बीच ५ वर्ष के लिए एक समझौता हुआ। इसके

चाहती है जिससे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की क्षेत्रीय एकता (territorial integrity) को स्वीकार करें, न तो अतिक्रमण करें और न आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करें, सबको समान समझें, पारस्परिक हित के लिए प्रयत्न करें तथा शान्तिमय सह-अस्तित्व में विश्वास करें। नाटो, सीटो, वारसा अथवा बगदाद समझौते और सन्धियों से शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। ये केवल युद्ध की आशंकाओं को पुष्ट करती हैं और शांति के लक्षण उतने ही दूर होते जाते हैं।

प्रमुख सम्मेलन

(१) हेग-सम्मेलन—यह सन् १८६० में हालैण्ड के हेग नामक स्थान पर हुआ था जिसमें २६ राष्ट्रों ने भाग लिया था। इसने शस्त्रों की वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगाया तथा अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का शांतिमय समाधान की सिफारिश भी की।

दूसरा हेग सम्मेलन सन् १६०७ में हुआ जिसमें अन्य विषयों के साथ तटस्थ राष्ट्रों के अधिकार एवं कर्त्तव्य पर विचार हुआ।

(२) कासाब्लंका सम्मेलन—इसका अधिवेशन २६, जनवरी १४ से सन् १६४३ में फ्रान्सीसी मोरक्को (जो अब स्वतन्त्र हो गया है) के कासाबंका नामक स्थान पर हुआ था। इसमें ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री विंस्टन चर्चिल तथा अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भाग लिया था। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य सिसिली तथा इटली पर आक्रमण करने के लिए योजना बनाना था।

(३) डम्बरटन-ओक्स-सम्मेलन—इस सम्मेलन ने अन्तरराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए सिफारिश की। इसमें ब्रिटेन, अमेरिका, चीन तथा रूस के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।

(४) याल्टा-सम्मेलन—काला सागर पर स्थित याल्टा (Yalta) में फरवरी सन् १६४५ में यह सम्मेलन हुआ जिसमें ब्रिटेन के प्रधान

मंत्री चर्चिल, रूस के प्रधान स्टालिन तथा अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम चरण में जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने का निश्चय किया। उन लोगो ने यह भी निश्चय किया कि बिना किसी शर्त के जर्मनी को आत्मसमर्पण करने के लिए विवश किया जाय।

(५) सानफ्रांसिसको-सम्मेलन—डम्बरटन ओक-सम्मेलन की सिफारिश, इस सम्मेलन में जो जून सन् १६४५ में सान फ्रांसिसको नामक स्थान पर हुई, कार्य के रूप में परिणत किया गया। इस सम्मेलन के ५१ प्रतिनिधियों ने राष्ट्रसंघ की घोषणापत्र (Charter) पर हस्ताक्षर किये।

(६) उच्चस्तरीय जेनेवा-सम्मेलन—योरपीय शान्ति की रक्षा के निमित्त १८ जुलाई सन् १६५५ को जेनेवा सम्मेलन बुलाया गया। पारस्परिक तनातनी कम करने के अतिरिक्त इस सभा के सम्मुख ४ मुख्य समस्यायें थीं—(१) जर्मनी का राष्ट्रीकरण, (२) योरपीय सुरक्षा, (३) निःशस्त्रीकरण और (४) पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के सम्बन्ध को घना बनाना।

इस सम्मेलन में संसार के चार प्रमुख राष्ट्रों ने भाग लिया था—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस। इन राष्ट्रों के प्रतिनिधि ये थे—राष्ट्रपति आइसनहावर (अमेरिका), सर इन्थोनी इडेन (ब्रिटेन), मार्शल बुल्गानिन (रूस) और श्री फौरी (फ्रान्स)।

सर्व प्रथम चार राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जर्मनी के राष्ट्रीकरण पर अपना मत प्रकट किया। श्री इडेन ने जर्मनी की एकता के लिए स्वतन्त्र चुनाव पर जोर दिया। श्री बुल्गानिन ने अपने भाषण में कहा कि जर्मनी की एकता के लिए सबसे आवश्यक यह है कि पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी में पारस्परिक सम्पर्क बढ़े। श्री इडेन ने सम्मेलन को पाँच शक्तियों का एक गुट बनाने की राय दी। चार शक्तियों के अतिरिक्त पाँचवी शक्ति

जर्मनी होगी। श्री बुल्गानिन ने इस सुझाव का विरोध किया और यह आश्वासन माँगा कि जर्मनी पश्चिमी गुट के साथ नहीं मिलेगा। राष्ट्रपति आइसनहावर ने अपने भाषण में श्री बुल्गानिन को इस बात का आश्वासन दिया कि अमेरिका रूस के विरुद्ध किसी भी युद्ध में भाग न लेगा। यदि वह किसी युद्ध में भाग लेगा तो वह केवल अपनी रक्षा के लिए।

पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क को बढ़ाने के लिए किसी भी राष्ट्र ने कोई निश्चित मार्ग प्रस्तुत नहीं किया। राष्ट्रपति आइसनहावर और प्रधान मन्त्री फौरी ने अपने भाषणों में उच्च भावनाओं को प्रदर्शित किया परन्तु जिस मार्ग का अवलम्बन कर उद्देश्य की प्राप्ति करना है, इस विषय पर दोनों मौन रहे। श्री इडेन ने केवल स्वतन्त्र चुनाव के आधार पर एक संयुक्त-जर्मनी" (Unified Germany) की कल्पना की। श्री बुल्गानिन अपने विचारों में अधिक स्पष्ट था। उसने पूर्वी समस्याओं को भी सामने रखा तथा उसका भी समाधान चाहा। उसने कम्यूनिस्ट चीन की मान्यता तथा फारमोसा की समस्या को भी उठाया। उसने योरुपीय सुरक्षा-योजना की रूपरेखा खींचा। श्री बुल्गानिन का कहना था कि नाटो १५ राष्ट्रों की पश्चिमी संन्धि तथा ८ राष्ट्रों की वारसा-सन्धि आदि सभी समाप्त कर दिया जाय। उसने यह भी मन्त्रणा दी कि योरपीय राष्ट्रों से सभी विदेशी सेनायें हटा ली जायँ।

फ्रान्स, ब्रिटेन और अमेरिका इन शर्तों को कब मानने के लिए तैयार थे। वे आरम्भ से ही रूस को संदेह युक्त दृष्टि से देखते हैं। वे किसी प्रकार की शर्तों को मानकर अपनी कमजोरी का प्रदर्शन नहीं कर सकते थे। अतः जेनेवा की सभा अपने उद्देश्य में असफल रही।

—(७) बांदुंग-सम्मेलन—इसे 'अफ्रो-एशियन कानफ्रेन्श' भी कहते हैं। यह सन् १९५५ में इन्डोनेशिया के बांदुंग नगर में हुआ था। इसमें एशिया और अफ्रीका के प्रमुख राज्यों ने, जिनकी संख्या २९ थी भाग लिया था।

(८) बरमुडा-सम्मेलन—यह सम्मेलन बरमुडा द्वीप में सन् १९५६ में अमेरिका के राष्ट्रपति आइसनहावर और ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री हेराल्ड मैकमिलन के बीच पारस्परिक हितों पर विचार विमर्श करने के लिए हुआ था।

(९) ब्रीओनी सम्मेलन—यह सम्मेलन युगोस्लाविया के ब्रीओनी द्वीप (Brioni Island) में जुलाई सन् १९५६ में हुआ था। इसमें मिश्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर, युगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो और भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने भाग लिया था। यह तीन विभिन्न महाद्वीपों के तीन राष्ट्रों का, जो अभी तक किसी भी गुट या समझौते में सम्मिलित नहीं हुये हैं, सम्मेलन था। इस सम्मेलन ने विश्व स्थिति पर पुनर्विचार किया, सहअस्तित्त्व में विश्वास प्रकट किया और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं को शांतिमय उपायों द्वारा समाधान करने पर जोर दिया।

(१०) लन्दन-सम्मेलन—इसका अधिवेशन ब्रिटेन के निमंत्रण पर लंदन में १६ अगस्त सन् १९५६ से हुआ था। इसका उद्देश्य स्वेज संकट से उत्पन्न समस्या को सुलझाना था। इसने स्वेज पर अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण की सिफारिश की। इस प्रस्ताव का भारत, रूस आदि देशो ने विरोध किया।

(११) कोलम्बो-सम्मेलन—यह सम्मेलन नवम्बर सन् १९५६ में दिल्ली में हुआ था। भारत, इन्डोनेशिया, बर्मा और लंका के प्रधान मन्त्रियों ने इसमें भाग लिया था। पाकिस्तान के प्रधान मन्त्री ने निमंत्रण अस्वीकार कर दिया था। इस सम्मेलन ने मिश्र और हंगरी की समस्याओं को शांति द्वारा सुलझाने की अपील की। इसने सैनिक-सन्धियो का विरोध किया तथा उन्हें विश्व-शांति के लिए आपत्तिजनक बतलाया।

—:—

शुद्धि पत्र

(आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ)

पृष्ठ संख्या	पंक्ति में	अशुद्ध (छपा)	शुद्ध (चाहिये)
१६	१	के	ने
२३	४	भावों	भावी
२५	२१	समान्यता	सामान्यता
२६	१२	सूदान	सूडान
२६	२४	विचार तथा	विचार न था तथा
३०	१०	राष्ट्र संघ	राष्ट्रसंघ
३०	२३	हस	इस
५४	१३	और	(to be deleted)
५७	६	करने अनुमति दे।	करने की अनुमति दे।
५७	१०	कमान के स्थापना	कमान की स्थापना
७५	२५	प्रतपक्ष	प्रत्यक्ष
७७	३	एक राष्ट्र कुल	यह राष्ट्रकुल
७७	८	सामाज्ञी	साम्राज्ञी
८१	१६	बृटिश	ब्रिटिश
८३	७	श्री० वी० के० कपूर	श्री० बी० के० कपूर
१०१	२७	राष्ट्र संघीय	राष्ट्रसंघीय
११७	११	अंग	भंग
१२०	२	बी० के० कृष्ण मेनन	वी० के० कृष्ण मेनन
१२३	१२	पाकिस्तान, फारमोसा और ने	पाकिस्तान और फारमोसा ने
१२३	६	महा समिति	महासमिति

पृष्ठ संख्या	पंक्ति में	अशुद्ध (छपा)	शुद्ध (चाहिये)
१२४	६	समित	समिति
१३१	६	जनवरी '५८	जनवरी '५६
१५०	१४	२ जनवरी सन् १६५१	२ जनवरी सन् १६५६
१५८	१०	अल्प संख्यक	अल्पसंख्यक
१६१	१२	वी० के० कृष्ण मेनन	वी० के० कृष्ण मेनन
१६३	२१	काम काम	काम में
१६५	२४	पुतगाल	पुर्तगाल
१६६	२६	सहमति	असहमति
१७२	५	इस	(to be deleted)
१७४	२३	राष्ट्रीसंघीय	राष्ट्रसंघीय
१७६	१	का	की
१८६	४	महा समिति	महासमिति
१८६	४	महा मन्त्री	महामन्त्री
१८७	१०	हगरी	हंगरी
१८८	१२	भर्त्तना	भर्त्सना
१८८	१४	आधारद्य	आधारित
२०५	५	(सन १६६२ से)	(सन् १६६२ तक)
२०८	६	कई	कोई
२०६	११	राष्ट्रसंघ	राष्ट्र संघ
२१२	१३	परमाणविक	पारमाणविक
२१८	२५	फ्रान्स	सीरिया
२२०	१५	२६ जनवरी १४	जनवरी १४ से २६